उर्दू की बेहतरीन कहानियाँ

इतने छोटे- संकलन में उर्दू की समस्त सर्वश्रेष्ठ कहानियों को
और कहना कि मात्र ये ही उर्दू की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं, धृष्टता से कम नहीं। उर्दू की सभी बेहतरीन कहानियों के लिए ऐसे दस संकलन भी कम पड़ जायँगे।

उर्दू की बेहतरीन कहानियाँ में इसीलिए केवल प्रमुखतम लेखकों की एक-एक ऐसी कहानी चुन ली गयी है, जो न केवल उनकी कला का प्रतिनिधित्व करती है, वरन् उनकी कहानियों में सर्वश्रेष्ठ भी समझी गयी है।

हमारा विश्वास है कि पाठक जब इन कहानियों को पढ़ेंगे, उन्हें हमेशा इनमें नया रस और नयी अनुभूति मिलेगी।

उर्दू की बेहतरीन कहानियाँ

सम्पादक

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन

इलाहाबाद-१

● पहला संस्करण : १९६१

● मूल्य :

● प्रकाशन : नीलाभ प्रकाशन
५ खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद-१

● मुद्रक : भार्गव प्रेस
१ बाई-का-बाग, इलाहाबाद-३

अनुक्रम

●

कृष्ण चन्द्र

आँगी

परदेसी ने आकाश की ओर आँख उठायी। आकाश के गहरे-नीले समुद्र में बादलों के स्वच्छ श्वेत टुकड़े बर्फ़ के बड़े-बड़े टीलों की तरह तैर रहे थे और उनके पास चीलें मँडरा रही थीं। चीलें?......तब तो ज़रूर कोई गाँव पास ही होगा। उसने हाँप कर अपने माथे पर से पसीना पोंछा। चीलें इन्सानी बस्तियों की सूचक होती हैं—परदेसी ने मन में सोचा, गिद्ध, कुत्ते, चीलें, मनुष्य—इन प्राणियों के गुण-कर्म-स्वभाव एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। इस तरह सोचता हुआ वह बहुत-सा रास्ता पार कर गया। कई जगह सीधी ढलानें थीं, कई जगह ऊँची घाटियाँ थीं, जिनके आँचल में खड़े होकर ऐसा मालूम होता था कि इनके शिखर पर बादलों के महल बने हैं। लेकिन जब वह शिखर पर पहुँचता तो बादलों का महल ऊपर उठकर आकाश में लीन हो जाता। इस संसार में कितना धोखा है? परदेसी के कल्पना-लोक में नये-नये चित्र बनने लगे। सफ़ेद, झिलमिल, चमकते हुए लाखों ताजमहल थे और चारों ओर जमुना का नीला पानी फैला हुआ था। उसने सोचा, इन

संगमरमरी महलों को किस शाहजहाँ ने बनाया है? और किस प्रेमिका की याद में?...

इसी तरह अपने मन से बातें करता हुआ परदेसी बहुत दूर निकल गया। अब हवा में कुछ ठंडक भर गयी थी, और सूरज पश्चिम की ओर भागा जा रहा था। सामने पहाड़ों पर देवदार के घने जंगल खड़े थे, जिनका गहरा रंग डूबते हुए सूर्य की किरणों में हल्का अर्गवानी-सा हो रहा था। यह रंग आख़िर है क्या? नीला, पीला, हरा, अर्गवानी; और फिर एक ही इन्द्रधनुष में सातों रंगों की किरणें, ओस के एक ही कण में सब रंगों की झलक—यह कैसी विचित्र लीला है। यह कैसी दुनिया है? मैं कहाँ जा रहा हूँ और वह गाँव अभी तक क्यों नहीं आया?

वह कन्धे पर पड़े हुए झोले को ठीक करके अपनी छड़ी को ज़मीन पर टेककर रास्ते में खड़ा हो गया और सरसरी नज़रों से चारों ओर देखने लगा। चारों ओर सुनसान घाटियाँ थीं। अचानक उस चुप्पी को चीरता हुआ घंटियों का कोलाहल उठा। ऐसा लगा कि लाखों मन्दिरों की घंटियाँ एकदम झनझना उठी हों। परदेसी का स्वागत करने के लिए उनकी आवाज़ ने घाटी के मौन-साम्राज्य को भंग कर दिया। वह आवाज़ आकाश में फैल गयी और ऊपर मँडराते हुए बादलों से टकराती हुई मालूम हुई, और फिर पश्चिम की ओर से आती हुई मालूम होने लगी। पश्चिम दिशा के मोड़ से भेड़ों, बकरियों, गायों, भैंसों का एक रेवड़ निकल रहा था। परदेसी रास्ता छोड़कर एक टीले पर खड़ा हो गया।

"हा, हुश, बली—हा-हा, नेलती—हा-हा बली, ही-ही..."

नेलती और बली दो सुन्दर बछड़ियाँ वापस घर जाने की ख़ुशी में हिरण की तरह कुलाचें भर रही थीं और बेचारी चरवाही को इन्हें रेवड़ के साथ रखने में बहुत परेशानी हो रही थी।

नेलती कभी भेड़ों के गल्ले में घुस जाती और उन्हें इतना परेशान करती कि वे 'बे-बा' 'बा-बे' करती हुई तितर-बितर हो जातीं और सारे रेवड़ की पंगत को तोड़ देतीं। बली नाचती-कूदती बकरियों के पास जाती और उन्हें धक्के

मार-मारकर आस-पास के टीलों पर चढ़ा देती। बड़ी-बूढ़ी भैंसें और गायें इस उछल-कूद को तिरस्कार की दृष्टि से देखती थीं, जैसे कह रही थीं, 'कर ले दो दिन और खेल-कूद. फिर वह दिन भी आयगा जब तेरी पिछली टाँगों को बाँधकर तेरा दूध दुहा जायगा। तब तेरी चाल भी हमारी तरह बेढंगी होकर रह जायगी। अब भले मस्त हिरणी की तरह कुलाँचें भर ले।'

नेलती उछलती हुई परदेसी के पास आ गयी। उसके गले में बँधी हुई घंटियों की रुन-झुन उसके नाचते हुए क़दमों के लिए घुँघरुओं का काम दे रही थी। अपने अगले पाँव टीले पर टेककर वह परदेसी के पाँव सूँघने लगी। मानो जंगल में घास के पूले को सूँघ रही हो।

"नेलती, हा हा!" चरवाही ने अपनी पतली आवाज़ में चिल्लाकर कहा। उसकी आवाज़ में भी एक घंटी की पतली गूँज थी। लेकिन, नेलती ने उस आवाज़ की कोई परवाह न की। शायद ख़ुशी से, या शरारत से। बेचारी चरवाही को तंग करने के लिए वह परदेसी का बूट चाटने लगी।

चरवाही फिर चिल्लायी, "नेलती—हा-हा-हुश, नेलती—हो!"

यह चिल्लाती-चिल्लाती चरवाही परदेसी के बहुत पास आ गयी और डंडे से नेलती को सज़ा देने लगी। बेचारी तंग आ गयी थी। चेहरे पर पसीने की बूँदें थीं और गाल ग़ुस्से से तमतमाये हुए थे। नेलती को दूर हटाकर उसने निडर आँखों से परदेसी को देखा और पहाड़ी भाषा में बोली:

"राही! को को?" (राही! किधर जा रहे हो?)

परदेसी मुस्करा दिया और कहने लगा, "यह नेलती कितनी शरारती है।"

चरवाही के चेहरे से रूखापन उतर गया। वह नेलती की ओर, जो मार खा कर भी नाचती-कूदती जा रही थी, प्यारी आँखों से देखती हुई बोली—

"अभी यह तीन साल की भी नहीं है।"

"हूँ...और तुम्हारी उम्र कितनी है?"

चरवाही ने क्षण भर के लिए परदेसी की ओर आश्चर्य-भरी आँखों से देखा। दूसरे क्षण उसका चेहरा लाज से लाल हो गया। उसने मुँह फेर

लिया और रेवड़ के साथ-साथ चलने लगी।

परदेसी टीले से उतरकर चरवाही के साथ हो लिया और उस की छड़ी छीनकर कहने लगा :

"मालूम होता है आज तुम्हारा बड़ा भाई तुम्हारे साथ नहीं आया। तभी तो रेवड़ चराने में तुम्हें इतनी परेशानी हो रही है। अब देखो मैं रेवड़ सम्हाल लेता हूँ और तुम एक छोटी सीधी लड़की की तरह मेरे पीछे चली आओ। मैं थका हुआ हूँ। बहुत दूर जाना है। सूरज डूबने को है। कितनी दूर है तुम्हारा गाँव? यह भला हम वापस किधर जा रहे हैं?"

चरवाही ने हँसते हुए कहा, "गाँव तो तुम पीछे छोड़ आये थे। इसलिए वापस जा रहे हो। वह देखो, उस घाटी के पास (उँगली उठाकर) वह रहा हमारा गाँव।"

"क्या नाम है?"

चरवाही ने जल्दी से कहा, "सारद"

परदेसी ने चरवाही की ओर देखकर कहा, "मैं कहने को था कि तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा...मेरा नाम आँगी है।" आँगी ने रुकते-रुकते उत्तर दिया और पूछा, "तुम कहाँ से आ रहे हो?"

परदेसी ने कुछ सुना ही नहीं। ज़ोर-ज़ोर से रेवड़ को आवाज़ देने में मगन हो गया—"दुश हा-हा, नेलती हा-हा, बली, ही-ही।"

आँगी हँसते-हँसते दोहरी हो गयी। वह सोचने लगी, इस तरह तो मैं हँसते-हँसते मर जाऊँगी, यह राही भी कितना अजीब है। फिर बोली—"हा-हा...तुम तो रेवड़ को भी काबू में नहीं रख सकते, इधर लाओ छड़ी।"

यह कहते हुए चरवाही ने हँसते-हँसते परदेसी से छड़ी छीन ली।

।

परदेसी को सारद गाँव बहुत पसन्द आया। यहाँ लगभग बीस-पच्चीस कच्चे घर थे, जो खड़िया से पुते हुए थे और नाशपाती, केले, सेब के वृक्षों से

घिरे हुए थे। सेब के वृक्षों में फूल आये हुए थे। कच्ची, हरी नाशपातियाँ वृक्षों की डालियों पर लटक रही थीं। गाँव के खेत मकई के नन्हे-नन्हे पौदों से हरी मख़मल की तरह बने हुए थे। घने झुरमुट के बीच एक झरना गुनगुनाता-सा बह रहा था। उससे कुछ दूरी पर एक छोटा-सा मैदान था, जिसके मध्य में चिनार का एक वृक्ष शाखायें फैलाये हुए खड़ा था। उसकी छाया इतनी लम्बी हो गयी थी कि नीचे बहती हुई नदी के किनारे तक पहुँच रही थी। नदी एक पतली-सी नागिन की तरह बल खाती हुई उत्तर-पूर्व के बर्फ़ीले पहाड़ों से आ रही थी और डूबते हुए सूरज के पीछे-पीछे भाग रही थी। जहाँ तक आँख देख सकती थी यह दिखायी देता था कि वह दो पहाड़ों के पतले किनारों से गुज़रती हुई कहीं खो जाती थी। उसके परे परदेसी का देश था। वह वहाँ कब वापस जायगा? क्या वह कभी वापस जा सकेगा? यहाँ कितनी शान्ति है, आराम है।

अचानक उसकी आँखों के आगे रेलगाड़ी के घूमते हुए पहिये उछलने लगे। यह कैसा शोर है। मनुष्य सुनसान चुप्पी से इतना क्यों डरते हैं, शोर क्यों मचाते हैं, गला फाड़-फाड़कर क्यों चिल्लाते हैं? यहाँ कितनी चुप्पी है, शान्ति है, विश्राम है! नीचे पगडण्डी पर नदी के किनारे आँगी किसी लापरवाह हिरनी की तरह क़दम रखती हुई आ रही थी। कन्धे पर पतली-सी छड़ी थी। होंठों पर एक अर्थहीन-सा गीत था।

परदेसी ने अपनी पुस्तक बन्द कर दी और आँगी की ओर देखते हुए सोचने लगा, यदि वह चित्रकार होता तो कितना अच्छा होता! कितना सुन्दर चित्र है, कितना आकर्षक दृश्य! आँगी के हिलते हुए सुडौल और गठे हुए बाज़ू, उसकी कमर का सुन्दर गठन और उसकी लचक—कितनी मोहक है। वह चित्रकार नहीं तो मूर्तिकार ही होता। दुनिया में किसी की इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। नहीं तो वह ऐसी सुन्दर प्रतिमा तैयार करता कि यूनानी कलाकार भी दाँतों तले उँगली दबाते।

इतने में आँगी ने उसे देख लिया। विचित्र बात है। वह क्यों ठिठककर खड़ी हो गयी है? उसके होंठों का अर्थहीन गीत क्यों रुक गया है? वह छड़ी

से ज़मीन पर क्या लिख रही है ?—बेचारी अनपढ़ आँगी।

परदेसी ने ज़ोर से पुकारा, "आँगी !"

आँगी ने सुना ज़रूर मगर जवाब नहीं दिया। वह अब ऊपर चढ़ने लगी। घाटी के घुमावदार रास्ते से गुज़रती हुई उधर ही आने लगी। लेकिन उसकी चाल बदल गयी है। बाहें अब उस बेपरवाही से नहीं हिल रहीं। गरदन एक ओर झुक गयी है। यह एक नया चित्र है। इस चित्र का रंग नया है। इस गीत की लय अनोखी है।

आँगी घाटी पर चढ़ आयी। यहाँ आकर वह परदेसी के पास बैठ गयी और छड़ी को हरी घास पर रखकर सुस्ताने लगी। परदेसी बड़े ध्यान से उसके केशों की उन लटों को देखने लगा, जो आँगी के गालों पर उतर आयी थीं। अचानक आँगी बोल उठी—"तुम वापस कब जाओगे राही ? तुम अपना नाम ही नहीं बताते तो मैं तुम्हें राही ही कहूँगी। ठीक है न ?"

परदेसी ने पुस्तक के पन्ने उलटते हुए कहा, "ठीक है, और राही इतना बुरा नाम भी नहीं। बात असल में यह है आँगी, कि मैं यहाँ अपना स्वास्थ्य सुधारने आया हूँ। जब सुधर जायगा, चला जाऊँगा।"

आँगी ने बड़ी नर्मी से पूछा, "किधर जाओगे ?"

परदेसी ने बड़ी लापरवाही से दाहिना हाथ उठाते हुए कहा, "उधर जाऊँगा।"

"तुम कहाँ से आये हो ?"

इस बार परदेसी ने दूसरा हाथ उठाकर कहा, "इधर से आया हूँ।"

आँगी की आँखों में अजीब-सी चमक भर गयी। रुकते-रुकते कहने लगी, "राही ! तुम कितने अजीब हो ?"

राही दिल में सोचने लगा, क्या सचमुच मैं अजीब हूँ ? क्या यह सारा दृश्य ही अजीब नहीं ? यह स्वप्न की-सी सुनसान घाटियाँ, यह मौत की-सी ज़िन्दगी, ये आँगी के गालों पर लहराती लटें, क्या ये सब अजीब नहीं ? आँगी का कुर्ता जगह-जगह से फटा हुआ है। उसमें दर्जनों पैवन्द लगे हैं। लेकिन वह किस आन-बान से गरदन ऊँची किये, नदी की ओर देख रही है।

नदी का पानी भी उसकी आँखों की तरह नीला है। क्या यह अजीब बात नहीं? आँगी के हाथ कितने पुष्ट दिखायी देते हैं! उसकी लम्बी उँगलियाँ हल के हत्थे पर दृढ़ता से जम जाती होंगी। उसकी कलाई ने शायद कभी चूड़ियों की झनकार नहीं सुनी। कितनी अजीब बात है! अपने चाकू से कलम घड़ने में मुझे जितना समय लगता है, आँगी उतने समय में आधे खेत की जुताई कर लेती होगी।

कई दिन बाद आँगी से परदेसी की भेंट हुई तो परदेसी ने कहा, "आँगी! तुम्हें इतने दिनों से नहीं देखा।"

आँगी ने उत्तर दिया, "अजीब बात है। मैं समझती हूँ कि तुम इतने दिन कहीं लापता रहे। अब...बहुत दिन हुए, तुमने अपनी तारों वाली बंसरी (वायलिन) नहीं सुनायी। अभी परसों की ही बात है, हम सब मैदान वाले वृक्ष के नीचे बैठे हुए फ़ीरोज़ से अलगोज़ा सुन रहे थे। तुम्हें पता है न, वह अलगोज़ा बहुत अच्छा बजाता है। किरण कहने लगी, 'पता नहीं आजकल राही दिखायी नहीं देता। उससे उसकी तारों वाली बंसरी बजाने को कहते। क्यों?" इतना कहकर आँगी ने परदेसी की ओर देखा।

परदेसी की उँगलियाँ बेचैन हो गयीं। उसने अपना हाथ आँगी के हाथ के इतने पास रख दिया कि एक की उँगलियाँ दूसरे को छू रही थीं। धीमे से वह बोला, "हाँ, ठीक है। मैं आजकल लम्बी-लम्बी सैर करने के लिए गाँव से बहुत दूर निकल जाता हूँ। कभी-कभी सनोबरों के उन घने जंगलों में भी चला जाता हूँ।"

"तुम्हारा मन अकेले कैसे लगता होगा?"

"अकेला तो नहीं होता। कभी कोई पुस्तक ले जाता हूँ, कभी कुछ लिखता हूँ, कभी अपनी तारों वाली बंसरी बजाता हूँ।"

आँगी ने चकित-सी होकर परदेसी की ओर देखा और कहा, "राही! तुम कितने अजीब हो।"

उसकी साँस में शहद की-सी मिठास थी।

बरसात के अन्तिम दिनों में मकई की फसल पक गयी। गाँव वालों ने मैदान वाले वृक्ष के आस-पास बड़े-बड़े खलिहान लगाये। उन्हें गोबर से लीप दिया। फिर उन पर खड़िया मिट्टी फेर दी। फिर उनमें मकई के भुट्टों के अम्बार जमा किये। उन पर बैलों को चक्कर दे दे कर चलाया, जिससे दाने भुट्टों से जुदा हो जायँ। कुछ भुट्टे तो इस तरह बिलकुल साफ़ हो गये, लेकिन बहुत से भुट्टे बड़े ज़िद्दी निकले। बैलों के पाँव तले रौंदे जाकर भी उन्होंने मकई के दानों को अपने से अलग नहीं किया। फिर सारद गाँव वालों की टोलियाँ बनीं। लोग चाँदनी रातों को इकट्ठे होकर उन भुट्टों से दाने अलग करने लगे। वह समय भी अजीब होता। नीचे बहती हुई नदी का धीमा-सा शोर सुनायी देता, पेड़ों की शाखों में चाँद अटक जाता और उस उदास गीत को सुनता रहता जो नौजवान किसान और उनकी माँ-बहनें गा रही होतीं।

गाते-गाते वे अचानक चुप हो जाते। उस चुप्पी में भी सब मिल कर मकई के दानों को अलग करना जारी रखते। हवा के हल्के-हल्के झोंके आते और पेड़ साँस लेता हुआ मालूम होता। आग सेंकता हुआ कोई बूढ़ा किसान कह उठता, "और गाओ बेटी, और गाओ।" फिर ख़ुद ही कोई पुराना गीत छेड़ देता।

उसे अपने अन्तिम दिनों में जीवन के मधुर दिनों की याद आ रही है। पीले-पीले दहकते अंगारों की चमक उसकी अश्रुभरी आँखों में काँप-काँप जाती है। गाते-गाते गीत के शब्द उसके मुख में लड़खड़ा जाते हैं। वह चुप हो जाता है, और अब आग के दहकते कोयलों पर मकई का भुट्टा भूनने लगता है। नौजवान लड़कियाँ आपस में हास-उपहास करती हुई अचानक हँस पड़ती हैं। नौजवान गड़रिये उन्हें कनखियों से देख कर मुस्कराते हैं। फिर कोई विरह का गीत हवा में गूँज उठता है। नौजवान लड़कियों की पतली आवाज़ें भी उसमें मिल जाती हैं। मालूम होता है वे किसी बड़ी समाधि पर बैठे हुए अपने प्रेमी की याद में दीपक जला रहे हैं। मकई के दाने किसी माला के अगणित दाने हैं। बूढ़ा किसान बूढ़ा पुजारी है। उस दीपक में अंबर जल रहा है, जिसका धुआँ उठकर सारी समाधि को सुवासित कर रहा है।

सारद गाँव वाले परदेसी को अपना प्रिय अतिथि और भाई समझते और उसे अपने उत्सवों में बुलाते। भोले-भाले किसान, अल्हड़ चरवाहियाँ, नन्हे-नन्हे बच्चे उसके चारों ओर जमा हो जाते और कहते, "परदेसी! अपनी तारों वाली बंसरी सुनाओ!" आँगी उसके कन्धे पर अपनी बाँह टेक देती और दूसरे हाथ से उसकी उँगलियों में मिज़राब पकड़ा कर कहती, "लो बजाओ राही! अपनी तारों वाली बंसरी।" या फिर खलिहानों की लम्बी-लम्बी छाया में कोई कहानी सुनने की माँग करता—उस दुनिया की कहानी, जहाँ लम्बे-लम्बे मैदान हैं, बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, मीलों तक फैले हुए शहर हैं; जहाँ लोहे के तारों पर लकड़ी के मकान एक पंक्ति में भागे जाते हैं; कहीं से कोई बटन दबाता है और लाखों बत्तियाँ जगमगा उठती हैं, आसमान पर उड़न-खटोले घूम रहे हैं और ज़मीन पर बाज़ारों में वे परियाँ चल रही हैं जिन के कपड़े तितलियों के पंखों से बनाये गये हैं।

इस तरह मकई के खलिहानों में कई चाँदनी रातें गुज़र गयीं। एक रात परदेसी ने फ़ीरोज़ का अलगोज़ा सुनते हुए अनुभव किया कि आँगी वहाँ नहीं है। फिर उसने मकई के दानों को भुट्टों से अलग करते हुए इधर-उधर देखा। लेकिन आँगी कहीं दिखायी न दी। तब परदेसी ने एक ऐसी हृदय-वेधक कहानी सुनायी जो शहरी जीवन की थी। उसकी आँखें आँगी को खोजती रहीं। पर आँगी दिखायी न दी। उसके बाद उसने वायलिन पर एक दुखभरा गीत छेड़ा। गाँव वाले उसके चारों ओर जमा हो गये। लेकिन उस भीड़ में भी उसकी आँखें आँगी को ही खोज रही थीं। लेकिन आँगी वहाँ नहीं थी। वह नहीं आयी।

अन्त में परदेसी ने पूछ ही लिया।

एक नौजवान किसान ने बेपरवाही से कहा, "वह खलिहान के दूसरी ओर बैठी है। अभी कुछ देर हुई अपनी सहेलियों के बीच बैठी गा रही थी, फ़ीरोज़ की बहन ने उसे न जाने क्या कहा कि वह उठ कर चली गयी और झोली में बहुत से भुट्टे भर कर ले गयी। अब अकेली बैठी दाने अलग कर रही होगी। कौन मनाता फिरे उसे?"

"तू क्यों नहीं जाकर मना लाती उसे ?"

किरण हँस पड़ी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

परदेसी ने देखा, खलिहान के दूसरी ओर मकई के भुट्टे ज़मीन पर पड़े हैं और उनके पास खलिहान का सहारा लिये हुए आँगी लेटी है।

"आँगी !"

"आँगी !!"

"आँगी !!!"

परदेसी आँगी पर झुक गया। उसने आँगी के सिर को अपनी बाहों में ले लिया और पूछा, "क्या बात है आँगी ?"

आँगी उठ बैठी। उसने धीमे से अपने आप को परदेसी की बाहों से जुदा किया और मकई के दाने अलग करने लगी।

अन्त में उसने दबे स्वर में कहा, "परदेसी, मुझे यहाँ से ले चलो।" यह कह कर उसने सिर झुका लिया और चुपचाप रोने लगी।

परदेसी चुपचाप मकई के दाने अलग करता रहा। उसने आँगी के आँसू नहीं पोंछे, उसे प्यार नहीं किया। अचानक एक पक्षी अपने काले पंख फैलाये हुए तीर की तरह सामने से निकल गया। खलिहान के ऊपर दो-तीन तारे चमक रहे थे। मानो आँगी के आँसू हों। खलिहान के दूसरी ओर औरतें नयी दुल्हन के ससुराल जाते समय का गीत गा रही थीं। परदेसी की आँखें पहाड़ों से दूर, सनोबरों के जंगल को चीर कर उन मैदानों को ढूँढ़ रही थीं, जहाँ उसका देश था। उसकी आँखों में रेलगाड़ी के पहिये उछलने लगे।

परदेसी ने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वह अपनी दुनिया में, अपनी सभ्यता की दुनिया में लौट आया। कभी वह सोचने लगता है कि उसने भूल की। कभी-कभी अपने मित्रों की मण्डली में बैठे हुए उसके कानों में वही शब्द गूँजने लगते हैं, 'राही ! तुम कितने अजीब हो !' उसके चेहरे से मुस्कराहट मिट जाती है और वह सोचता है, शायद किसी झरने पर रेवड़ को

पानी पिलाते हुए एक ग़रीब लड़की प्रतीक्षा कर रही है। उसके पाँव नंगे हैं, उसकी आँखें उदास हैं, उसके बालों में सेब के फूलों का गुच्छा...!

'आँगी !'

राजेन्द्र सिंह बेदी

अपने दुख मुझे दे दो

शादी की रात बिलकुल वह न हुआ जो मदन ने सोचा था।

जब चकली भाभी ने फुसलाकर मदन को बीच वाले कमरे में ढकेल दिया तो इन्दु सामने शाल में लिपटी हुई अँधेरे का हिस्सा बनी जा रही थी। बाहर चकली भाभी और दरियाबाद वाली बुआ और दूसरी औरतों की हँसी रात के ख़ामोश पानियों में मिस्री की तरह धीरे-धीरे घुल रही थी। औरतें सब यही समझती थीं, इतना बड़ा हो जाने पर भी मदन कुछ नहीं जानता। क्योंकि जब उसे आधी रात में नींद से जगाया गया तो वह हड़बड़ा रहा था—"कहाँ, कहाँ लिये जा रही हो मुझे?"

उन औरतों के अपने-अपने दिन बीत चुके थे। पहली रात के बारे में उनके नटखट शौहरों ने जो कुछ कहा और माना था, उनकी गूँज तक उनके कानों में बाक़ी न रही थी। वे खुद रस-बस चुकी थीं और अपनी एक और बहन को बसाने पर तुली हुई थीं। धरती की ये बेटियाँ मर्द को तो यों समझती थीं जैसे बादल का टुकड़ा, जिसकी तरफ़ बारिश के लिए मुँह उठा कर देखना

ही पड़ता है। न बरसे तो मन्नतें माननी पड़ती हैं, चढ़ावे चढ़ाने पड़ते हैं, जादू-टोने करने होते हैं। हालाँकि मदन कालका जी की उस नयी आबादी में घर के सामने खुली जगह में पड़ा, उसी वक्त का इन्तज़ार कर रहा था। फिर उसकी शामत कि पड़ोसी सिब्ते की भैंस उसकी खाट के पास ही बँधी थी, जो बार-बार फुंकारती हुई मदन को सूँघ लेती थी और वह हाथ उठा-उठाकर उसे दूर रखने की कोशिश करता था। ऐसे में भला नींद का सवाल ही कहाँ था?

सागर की लहरों और औरत के ख़ून को रास्ता बताने वाला चाँद एक खिड़की के रास्ते से अन्दर चला आया था और देख रहा था कि दरवाज़े के उस तरफ़ खड़ा मदन अगला क़दम कहाँ रखता है। मदन के अपने अन्दर एक घन-गरज-सी हो रही थी और वह अपने-आप को यों लग रहा था, जैसे बिजली का खम्भा हो, जिसे कान लगाने से उसे अन्दर की सनसनाहट सुनायी दे जायगी। कुछ देर योंही खड़े रहने के बाद उसने आगे बढ़ कर पलँग को खींचकर चाँदनी में कर दिया ताकि दुल्हन का चेहरा तो देख सके। फिर वह ठिठक गया। तभी उसने सोचा—इन्दु मेरी पत्नी है, कोई परायी औरत तो नहीं, जिसे न छूने का पाठ बचपन से ही पढ़ता आया हूँ।

सालू में लिपटी हुई दुल्हन को देखते हुए उसने मान लिया कि वहाँ इन्दु का मुँह होगा और जब हाथ बढ़ाकर उसने पास पड़ी गठरी को छुआ तो वहीं इन्दु का मुँह था।...मदन ने सोचा था, वह आसानी से मुझे अपने-आप को न देखने देगी। लेकिन इन्दु ने ऐसा कुछ न किया, जैसे पिछले कई वर्षों से वह भी उसी क्षण के इन्तज़ार में हो और किसी ख़याली भैंस के सूँघते रहने से उसे भी नींद न आ रही हो। उचटी नींद और बन्द आँखों की तकलीफ़ अँधेरे के बावजूद सामने फड़फड़ाती नज़र आ रही थी। ठोड़ी तक पहुँचते हुए आमतौर पर चेहरा लम्बोतरा हो जाता है। लेकिन यहाँ तो सभी गोल था। शायद इसीलिए चाँदनी की तरफ़ गाल और होंठों के बीच एक सायेदार खोह-सी बनी हुई थी, जैसी दो हरे-भरे टीलों के बीच होती है। माथा कुछ तंग था, लेकिन उस पर से यकायक उठने वाले घुँघराले

बाल...

जभी इन्दु ने अपना चेहरा छुड़ा लिया, जैसे वह देखने की अनुमति तो देती हो, पर इतनी देर के लिए नहीं, आख़िर शर्म की भी तो कोई हद होती है! मदन ने ज़रा कठोर हाथों से योंही-सी 'हूँ' 'हाँ' करते हुए दुल्हन का चेहरा फिर से ऊपर को उठा दिया और शराबी-सी आवाज़ में कहा—"इन्दु!"

इन्दु कुछ डर-सी गयी। ज़िन्दगी में पहली बार किसी अजनबी ने उसका नाम इस अन्दाज़ से पुकारा था और वह अजनबी किसी दैवी अधिकार से रात के अँधेरे में धीरे-धीरे उस अकेली, असहाय अबला का अपना होता जा रहा था। इन्दु ने पहली बार एक नज़र ऊपर देखते हुए फिर आँखें बन्द कर लीं और सिर्फ़ इतना ही कहा—"जी!" उसे ख़ुद अपनी आवाज़ किसी पाताल से आती हुई सुनायी दी।

देर तक कुछ ऐसा ही होता रहा और फिर हौले-हौले बात चल निकली। अब जो चली सो चली, थमने में ही न आती थी। इन्दु के पिता, इन्दु की माँ, इन्दु के भाई, मदन के भाई-बहन, बाप, उनकी रेलवे मेल-सर्विस की नौकरी, उनके स्वभाव, कपड़ों की पसन्द, खाने की आदत, सभी कुछ का जायज़ा लिया जाने लगा। बीच-बीच में मदन बात-चीत को तोड़ कर कुछ और ही करना चाहता था, पर इन्दु तरह दे जाती थी। इन्तिहाई मजबूरी और लाचारी में मदन ने अपनी माँ का ज़िक्र छेड़ दिया, जो उसे सात साल की उम्र में छोड़ कर, क्षय रोग में चलती बनी थी।

"जितनी देर ज़िन्दा रही बेचारी," मदन ने कहा, "बाबू जी के हाथ में दवाई की शीशियाँ रहीं। हम अस्पताल की सीढ़ियों पर और छोटा पाशी घर में चींटियों के बिल पर सोते रहे और आख़िर एक दिन—अट्ठाइस मार्च की शाम..." और मदन चुप हो गया। कुछ ही क्षणों में वह रोने से ज़रा इधर और घिग्घी से ज़रा उधर पहुँच गया। इन्दु ने घबरा कर मदन का सिर अपनी छाती से लगा लिया। इस रोने ने पल भर में इन्दु को भी अपने-पन से उधर पहुँचा दिया था...मदन इन्दु के बारे में कुछ और भी जानना

चाहता था। लेकिन इन्दु ने उसके हाथ पकड़ लिये और कहा, "मैं तो पढ़ी-लिखी नहीं हूँ जी...पर मैंने माँ-बाप देखे हैं, भाई और भाभियाँ देखी हैं, बीसियों और लोग देखे हैं, इसलिए मैं कुछ समझती-बूझती हूँ...मैं अब तुम्हारी हूँ—अपने बदले में तुमसे एक ही चीज़ माँगती हूँ।"

रात वक्त और उसके बाद भी एक नशा-सा था। मदन ने कुछ अधीरता और कुछ दरियादिली के मिले-जुले शब्दों में कहा—"क्या माँगती हो? तुम जो भी कहोगी मैं दूँगा।"

"पक्की बात?" इन्दु बोली।

मदन कुछ उतावला होकर बोला—"हाँ हाँ...कहा जो पक्की बात!"

लेकिन इस बीच में मदन के मन में एक आशंका उठी—मेरा कारबार पहले ही मन्दा है। अगर इन्दु कोई ऐसी चीज़ माँग ले जो मेरी पहुँच ही से बाहर हो तब फिर क्या होगा? लेकिन इन्दु ने मदन के सख्त और फैले हुए हाथों को अपने मुलायम हाथों में समेटते और उन पर अपने गाल रखते हुए कहा—

"तुम अपने दुख मुझे दे दो।"

मदन सख्त हैरान हुआ। साथ ही उसे अपने-आप पर से एक बोझ भी उतरता हुआ महसूस हुआ। उसने फिर चाँदनी में एक बार इन्दु का चेहरा देखने की कोशिश की। लेकिन वह कुछ न जान पाया। उसने सोचा, यह माँ या किसी सहेली का रटाया हुआ वाक्य होगा, जो इन्दु ने कह दिया। जभी एक जलता हुआ आँसू मदन के हाथ की पुश्त पर गिरा। उसने इन्दु को अपने साथ लिपटाते हुए कहा—"दिये।" लेकिन इन बातों ने मदन से उसकी क्रूरता छीन ली थी।

मेहमान एक-एक करके सब रुख़सत हुए। चकली भाभी दो बच्चों को उँगलियों से लगाये सीढ़ियों की ऊँच-नीच से तीसरा पेट सम्हालती हुई चल दीं। दरियाबाद वाली बुआ, जो अपने 'नौलखे हार' के गुम हो जाने पर शोर

मचाती, वावेला करती हुई बेहोश हो गयी थी और जो गुसलखाने में पड़ा मिल गया था, जहेज़ में से अपने हिस्से के तीन कपड़े लेकर चली गयी। फिर चाचा गये, जिनको उनके जे० पी० हो जाने की ख़बर तार के ज़रिये से मिली थी, और जो शायद बदहवासी में मदन के बजाय दुल्हन का मुँह चूमने चले थे।

घर में बूढ़ा बाप रह गया था और छोटे बहन-भाई। छोटी दुलारी तो हर वक्त भाभी की बग़ल ही में घुसी रहती। गली मुहल्ले की कोई औरत दुल्हन को देखे या न देखे, देखे तो कितनी देर तक देखे, यह सब उसके हाथ में था। आख़िर यह सब ख़त्म हुआ और इन्दु आहिस्ता-आहिस्ता पुरानी होने लगी। लेकिन कालका जी की इस नयी आबादी के लोग अब भी आते-जाते मदन के घर के सामने रुक जाते और किसी भी बहाने अन्दर चले आते। इन्दु उन्हें देखते ही एकदम घूँघट खींच लेती, लेकिन इन कुछ ही क्षणों में उन्हें जो कुछ दिखायी दे जाता, वह बिना घूँघट के दिखायी ही न दे सकता था।

मदन का कारबार गन्दे बिरोज़े का था। कहीं बड़ी सप्लाई वाले दो तीन जंगलों में चीड़ और देवदार के पेड़ों में आग लग गयी थी और वह धड़-धड़ जलते हुए ख़ाक-सियाह होकर रह गये थे। मैसूर और आसाम की ओर से मँगवाया हुआ बिरोज़ा महँगा पड़ता था और लोग उसे महँगे दामों ख़रीदने को तैयार न थे। एक तो आमदनी कम हो गयी थी, उस पर मदन जल्दी ही दुकान और उसके साथ वाला दफ़्तर बन्द करके घर चला आता। घर पहुँचकर उसकी सारी कोशिश यही होती कि सब खायें-पियें और अपने-अपने बिस्तरों में दुबक जायें। इसीलिए वह खाते वक्त ख़ुद थालियाँ उठा-उठा कर बाप और बहन के सामने रखता और उनके खा चुकने के बाद जूठे बर्तनों को समेट कर नल के नीचे रख देता। सब समझते बहू—भाभी ने मदन के कान में कुछ फूँका है और अब वह घर के काम-काज में दिलचस्पी लेने लगा है! मदन सब से बड़ा था, कुन्दन उससे छोटा और पाशी सबसे छोटा। जब कुन्दन भाभी के स्वागत में सब के एक साथ बैठ कर खाने का आग्रह करता तो पिता धनीराम वहीं डाँट देता—"खाओ तुम!" वह कहता, "वे भी

खा लेंगे।" और फिर रसोई में इधर-उधर देखने लगता और जब बहू खाने-पीने से छुट्टी पा लेती और बर्तनों की ओर ध्यान देती तो बाबू धनीराम उसे रोकते हुए कहते, "रहने दे बहू, बर्तन सुबह हो जायेंगे।"

इन्दू कहती, "नहीं बाबूजी—मैं अभी किये देती हूँ झपाक से।" तब बाबू धनीराम एक लरज़ती हुई आवाज़ में कहते, "मदन की माँ होती बहू, तो यह सब तुम्हें करने देती?"...और इन्दु एकदम अपने हाथ रोक लेती।

छोटा पाशी भाभी से शरमाता था। इस ख़याल से कि दुल्हन की गोद झट से हरी हो, चकली भाभी और दरियाबाद वाली बुआ ने एक रस्म में पाशी ही को इन्दु की गोद में डाला था। तब से इन्दु उसे न सिर्फ़ देवर, बल्कि अपना बच्चा समझने लगी थी। जब भी वह प्यार से पाशी को बाज़ुओं में लेने की कोशिश करती, वह घबरा उठता और अपने को छुड़ा कर दो हाथ की दूरी पर खड़ा हो जाता। देखता और हँसता रहता, पास आता न दूर हटता। कुछ अजीब संयोग से ऐसे में बाबू जी हमेशा वहीं मौजूद होते और पाशी को डाँटते हुए कहते, "अरे जा न—भाभी प्यार करती है, अभी से मर्द हो गया है तू?" और दुलारी तो पीछा ही न छोड़ती उसका, "मैं तो भाभी के पास ही सोऊँगी।" के आग्रह ने बाबूजी के अन्दर का जनार्दन जगा दिया था। एक रात इसी बात पर दुलारी को ज़ोर से चपत पड़ी और वह घर की अधकच्ची, अधपकी नाली में जा गिरी। इन्दु ने लपकते हुए पकड़ा तो सिर पर से दुपट्टा उड़ गया। बालों का फूल और चिड़ियाँ, माँग का सिन्दूर, कानों के करनफूल सब नंगे हो गये, "बाबूजी!" इन्दु ने साँस खींचते हुए कहा—एक साथ दुलारी को पकड़ने और सिर पर दुपट्टा ओढ़ने में इन्दु के पसीने छूट गये! उस बे-माँ की बच्ची को छाती से लगाये हुए इन्दु ने उसे एक ऐसे बिस्तर में सुला दिया, जहाँ सिरहाने-ही-सिरहाने, तकिये-ही-तकिये थे। न कहीं पाँयती थी, न काठ के बाज़ू, चोट तो एक तरफ़, कहीं कोई चुभने वाली चीज़ भी न थी। फिर इन्दु की उँगलियाँ दुलारी के फोड़े ऐसे सिर पर चलती हुई उसे दुखा भी रही थीं और मज़ा भी दे रही थीं। दुलारी के गालों पर बड़े-बड़े और प्यारे-प्यारे गढ़े पड़ते थे। इन्दु ने उन

गढ़ों का निरीक्षण करते हुए कहा, "हाय री मुन्नी, तेरी सास मरे! कैसे गढ़े पड़ रहे हैं गालों पर।"

मुन्नी ने मुन्नी की तरह कहा, "गढ़े तुम्हारे भी तो पड़ते हैं भाभी।"

"हां मुन्नी।" इन्दु ने कहा और एक ठंडी साँस भरा। मदन को किसी बात पर गुस्सा था। वह पास ही खड़ा सब सुन रहा था, बोला, "मैं तो कहता हूँ, एक तरह से अच्छा ही है।"

"क्यों अच्छा क्यों है?" इन्दु ने पूछा।

"हाँ...न उगे बाँस न बजे बांसरी...सास न हो तो कोई झगड़ा ही नहीं रहता।" इन्दु ने अचानक ख़फ़ा होते हुए कहा, "तुम जाओ जी, सो रहो जा के...बड़े आये हो...आदमी जीता है तो लड़ता है न? मरघट की चुपचाप से झगड़े भले। जाओ न, रसोई में तुम्हारा क्या काम है?"

मदन खिसियाना होकर रह गया। बाबू धनीराम की डाँट से बाक़ी बच्चे तो पहले ही से अपने-अपने बिस्तरों में यों जा पड़े थे, जैसे दफ़्तर में चिट्ठियाँ सार्ट होती हैं। लेकिन मदन वहीं खड़ा रहा। आवश्यकता ने उसे बेशर्म और ढीठ बना दिया था। लेकिन उस वक़्त जब इन्दु ने भी उसे डाँट दिया तो वह रोआँसा होकर अन्दर चला गया।

देर तक मदन बिस्तर में पड़ा कसमसाता रहा, लेकिन बाबू जी के ख़याल से इन्दु को आवाज़ देने की हिम्मत न पड़ती थी। उसकी बेसब्री की हद हो गयी जब मुन्नी को सुलाने के लिए इन्दु की लोरी की आवाज़ सुनायी दी—

'तू आ निंदिया रानी, बौरानी मस्तानी।'

वही लोरी, जो दुलारी मुन्नी को सुला रही थी, मदन की नींद भगा रही थी। अपने-आप से बेज़ार होकर उसने ज़ोर से चादर सिर पर खींच ली। सफ़ेद चादर के सिर पर ओढ़ लेने और साँस के बन्द करने से ख़ाहमख़ाह एक मुर्दे की कल्पना जाग उठी। मदन को यों लगा जैसे वह मर चुका है और उसकी दुल्हन 'इन्दु' उसके पास बैठी ज़ोर-ज़ोर से सिर पीट रही है, दीवार के साथ कलाइयाँ मार-मार कर चूड़ियाँ तोड़ रही है और फिर गिरती-पड़ती, रोती-चिल्लाती रसोई में जाती है और चूल्हे की राख सिर पर डाल

लेती है। फिर बाहर लपक जाती है और बाहें उठा-उठा कर गली-मुहल्ले के लोगों से फ़रियाद करती है—'लोगो में लुट गयी!' अब उसे दुपट्टे की परवाह नहीं, क़मीज़ की परवाह नहीं, माँग का सिन्दूर, बालों के फूल और चिड़ियाँ, जज़्बात और ख़यालात के तोते तक उड़ चुके हैं...

मदन की आँखों से अनायास आँसू बह रहे थे। हालाँकि रसोई में इन्दु हँस रही थी—पल भर में अपने सुहाग के उजड़ने और फिर बस जाने से बेख़बर—मदन जब वास्तविकता की दुनिया में आया तो आँसू पोंछते हुए अपने उस रोने पर हँसने लगा...उधर इन्दु हँस तो रही थी, लेकिन उसकी हँसी दबी-दबी थी। बाबू जी के ख़याल से वह कभी ऊँची आवाज़ में न हँसती थी, जैसे खिलखिलाहट कोई नंगापन है, ख़ामोशी, दुपट्टा और दबी-दबी हँसी, एक घूँघट। फिर मदन ने इन्दु की एक काल्पनिक मूर्ति बनायी और उससे बीसियों बातें कर डालीं। यों उससे प्यार किया जैसे अभी तक न किया था...वह फिर अपनी दुनिया में लौटा, जिसमें साथ का बिस्तर ख़ाली था। उसने हौले से आवाज़ दी, "इन्दु!" और फिर चुप हो गया। इस उधेड़-बुन में वह बौरायी मस्तानी निन्दिया उससे भी लिपट गयी—एक ऊँघ-सी आयी, लेकिन साथ ही यों लगा जैसे शादी की रात वाली, पड़ोसी सिब्ते की भैंस मुँह के पास फुंकारने लगी है। वह एक बेकली के आलस में उठा, फिर रसोई की तरफ़ देखते, सिर को खुजाते दो-तीन जमुहाइयाँ लेकर लेट गया, सो गया...

मदन जैसे कानों को कोई सन्देसा देकर सोया था। जब इन्दु की चूड़ियाँ बिस्तर की सिलवटें सीधी करने के लिए खनक उठीं तो वह भी हड़बड़ा कर उठ बैठा। यों एकदम जागने में मुहब्बत का जज़्बा और भी तेज़ हो गया था। प्यार की करवटों को तोड़े बग़ैर आदमी सो जाय और एकाएकी उठे तो मुहब्बत दम तोड़ देती है। मदन का सारा बदन अन्दर की आग से फुँक रहा था और यही उसके ग़ुस्से का कारण बन गया, जब उसने कुछ बौखलाये हुए अन्दाज़ में कहा :

"सो तुम...आ गयीं?"

"हाँ !"

"मुन्नी...सो...मर गयी !"

इन्दु झुकी-झुकी एकदम सीधी खड़ी हो गयी। "हाय राम !" उसने नाक पर उँगली रख, हाथ मलते हुए कहा, "क्या कह रहे हो...मरे क्यों बेचारी। माँ-बाप की एक ही बेटी।"

"हाँ...!" मदन ने कहा, "भाभी की एक ही ननद।" और फिर एकदम स्वर में आदेश भर कर बोला, "ज़्यादा मुँह मत लगाओ उस चुड़ैल को।"

"क्यों, इसमें क्या पाप है ?"

"यही पाप है।" मदन ने और चिढ़ते हुए कहा, "वह पीछा ही नहीं छोड़ती तुम्हारा। जब देखो जोंक की तरह चिपटी हुई है। दफ़ान ही नहीं होती !"

"हाँ...!" इन्दु ने मदन की चारपाई पर बैठते हुए कहा, "बहनों और बेटियों को यों दुतकारना नहीं चाहिए। बेचारी दो दिन की मेहमान। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, एक दिन चल ही देगी।" इसके बाद इन्दु कुछ कहना चाहती थी, लेकिन वह चुप हो गयी। उसकी आँखों के सामने अपने माँ-बाप, भाई-बहन, चचा-ताऊ सभी घूम गये। कभी वह भी उनकी दुलारी थी, जो पलक झपकते ही न्यारी हो गयी और फिर दिन-रात उसके निकाले जाने की बातें होने लगीं, जैसे घर में कोई बड़ी-सी बाम्बी है, जिसमें कोई नागिन रहती है। और जब तक वह पकड़ कर फेंकवाई नहीं जाती, घर के लोग आराम की नींद सो नहीं सकते। दूर-दूर से कीलने वाले, नथन करने वाले, दाँत तोड़ने वाले मदारी बुलवाये गये और बड़े-बड़े धनवन्तरी और मोती सागर—आख़िर एक दिन उत्तर-पच्छिम की तरफ़ से लाल आँधी आयी, जो साफ़ हुई तो एक लारी खड़ी थी जिसमें गोटे-किनारी में लिपटी हुई एक दुल्हन बैठी थी। पीछे घर में एक सुर बजती हुई शहनाई बीन की-सी लग रही थी। फिर एक धक्के के साथ लारी चल दी...

मदन ने कुछ नाराज़ होकर कहा, "तुम औरतें बड़ी चालाक होती हो। अभी कल ही इस घर में आयी हो और यहाँ के सब लोग तुम्हें हम से ज़्यादा

प्यार करने लगे।"

"हाँ!" इन्दु ने कहा।

"यह सब झूठ है...यह हो ही नहीं सकता।"

"तुम्हारा मतलब है मैं..."

"दिखावा है यह सब...हाँ।"

"अच्छा जी?" इन्दु ने आँखों में आँसू लाते हुए कहा, "यह सब दिखावा है मेरा?" और इन्दु उठकर अपने बिस्तर पर चली गयी और तकिये में मुँह छिपा कर सिसकियाँ भरने लगी। मदन उसे मनाने ही वाला था कि इन्दु खुद ही उठकर मदन के पास आ गयी और सख़्ती से उसका हाथ पकड़ते हुए बोली, "तुम जो हर वक़्त जली-कटी कहते रहते हो—हुआ क्या है तुम्हें?"

शौहराना रोब-दाब के लिए मदन के हाथ बहाना आ गया, "जाओ-जाओ...सो जाओ जाके," मदन ने कहा, "मुझे तुमसे कुछ नहीं लेना।"

"तुम्हें कुछ नहीं लेना, मुझे तो लेना है।" इन्दु बोली, "ज़िन्दगी भर लेना है।" और वह छीना-झपटी करने लगी। मदन उसे दुतकारता था और वह उससे लिपट-लिपट जाती थी। वह उस मछली की तरह थी, जो बहाव में बह जाने की जगह झरने के तेज़ धारे को काटती हुई ऊपर-ही-ऊपर पहुँचना चाहती हो। चुटकियाँ लेती, हाथ पकड़ती, रोती-हँसती वह कह रही थी:

"फिर मुझे फाफाकुटनी कहोगे?"

"वह तो सभी औरतें होती हैं।"

"ठहरो...तुम्हारी तो..." यों मालूम हुआ जैसे इन्दु कोई गाली देने वाली हो। और वह मुँह में कुछ मिनमिनायी भी। मदन ने मुड़ते हुए कहा, "क्या कहा?" और इन्दु ने अब के सुनायी देने वाली आवाज़ में दुहरा दिया। मदन खिलखिलाकर हँस पड़ा। अगले ही क्षण में इन्दु मदन के बाज़ुओं में थी और कह रही थी, "तुम मर्द लोग क्या जानो?...जिससे प्यार होता है उसके सभी सम्बन्धी प्यारे मालूम होते हैं। क्या बाप, क्या भाई और क्या बहन..." और फिर एकाएकी कहीं दूर-दूर देखती हुई बोली, "मैं

तो दुलारी मुन्नी का व्याह करूँगी।"

"हद हो गयी।" मदन ने कहा, "अभी एक हाथ की हुई नहीं और व्याह की भी सोचने लगीं।"

"तुम्हें एक हाथ की दिखती है न?" इन्दु बोली और फिर अपने दोनों हाथ मदन की आँखों पर रखती हुई कहने लगी, "ज़रा आँखें बन्द करो और फिर खोलो।" मदन ने सचमुच ही आँखें बन्द कर लीं और जब कुछ देर तक न खोलीं तो इन्दु बोली, "अब खोलो भी...इतनी देर में तो मैं बूढ़ी हो जाऊँगी।" तभी मदन ने आँखें खोल दीं। क्षण भर के लिए उसे यों लगा जैसे सामने इन्दु नहीं मुन्नी बैठी है और वह खो-सा गया।

"मैंने तो अभी से चार सूट और कुछ बर्तन अलग कर डाले हैं उसके लिए।" इन्दु ने कहा और जब मदन ने कोई जवाब न दिया तो उसे झक-झोरते हुए बोली, "तुम क्यों परेशान होते हो...याद नहीं अपना वचन? तुम अपने दुख मुझे दे चुके हो।"

"ऐं।" मदन ने चौंकते हुए कहा और जैसे बेफ़िक्र-सा हो गया। लेकिन अबकी जब उसने इन्दु को अपने साथ लिपटाया तो वहाँ एक शरीर ही नहीं रह गया था, साथ एक आत्मा भी शामिल हो गयी थी...

मदन के लिए इन्दु आत्मा-ही-आत्मा थी। इन्दु के शरीर भी था, लेकिन वह हमेशा किसी-न-किसी कारण मदन की नज़रों से ओझल ही रहा। एक पर्दा था—सपने के तारों से बुना हुआ, आँहों के धुएँ से रंगीन, ठहाकों के रजत-तारों से चकाचौंध, जो हर समय इन्दु को ढाँपे रहता था। मदन की निगाहों और उसके हाथों के दुःशासन सदियों से उस द्रौपदी का चीर हरण करते आते थे, जो आम तौर पर बीवी कहलाती है, लेकिन हमेशा उसे आसमानों से थानों-के-थान, गज़ों-के-गज़ कपड़ा अपनी आवरणहीनता ढाँपने के लिए मिलता आया था। दुःशासन थक-हार के यहाँ-वहाँ गिरे पड़े थे, लेकिन द्रौपदी वहीं खड़ी थी। प्रतिष्ठा और पवित्रता की सफ़ेद और बेदाग़ साड़ी में आवृत्त वह देवी लग रही थी और...

मदन के लौटते हुए हाथ ग्लानि के पसीने से तर होते, जिसे सुखाने के

लिए वह उन्हें ऊपर हवा में उठा देता और फिर हाथ के पंजों को पूरे तौर पर फैलाता हुआ, एक ऐंठने की हालत में अपनी आँखों की फैलती-फटती हुई पुतलियों के सामने रख देता और फिर उँगलियों के बीच में से झाँकता—इन्दु का संगमरमर का तन खुशरंग और भरा हुआ सामने पड़ा होता। व्यय के लिए पास, अपव्यय के लिए दूर...

कभी जब इन्दु की नाकाबन्दी हो जाती तो इस तरह के फ़िक़रे होते, "हाय जी घर में छोटे बड़े सभी हैं। वे क्या कहेंगे?"

मदन कहता, "छोटे समझते नहीं...बड़े अनजान बन जाते हैं।"

इसी बीच बाबू धनीराम की बदली सहारनपुर हो गयी। वहाँ वे रेलवे-मेल-सर्विस में सिलेक्शन ग्रेड के हेड-क्लर्क हो गये। इतना बड़ा क्वार्टर मिला कि उसमें आठ कुटुम्ब रह सकते थे। लेकिन बाबू धनीराम उसमें अकेले ही टाँगें फैलाये पड़े रहते। ज़िन्दगी भर वे बाल-बच्चों से कभी अलग नहीं हुए थे। सख़्त घरेलू क़िस्म के आदमी—आख़िरी ज़िन्दगी में इस तनहाई ने उनके दिल में वहशत पैदा कर दी। लेकिन मजबूरी थी। बच्चे सब दिल्ली में मदन और इन्दु के पास थे और वहाँ स्कूलों में पढ़ते थे। साल के ख़त्म होने से पहले उन्हें बीच में उठाना उनकी पढ़ाई के लिए अच्छा न था। बाबू जी को दिल के दौरे पड़ने लगे।

आख़िर गर्मी की छुट्टियाँ हुईं और उनके बार-बार लिखने पर मदन ने इन्दु को कुन्दन, पाशी और दुलारी के साथ सहारनपुर भेज दिया। धनीराम की दुनिया चहक उठी। कहाँ उन्हें दफ़्तर के काम के बाद फ़ुरसत-ही-फ़ुरसत थी और कहाँ अब काम-ही-काम था। बच्चे, बच्चों ही की तरह, जहाँ कपड़े उतारते वहीं पड़े रहने देते और बाबू जी उन्हें समेटते फिरते। अपने मदन से दूर, अलसाई हुई रति इन्दु तो अपने पहनावे तक से ग़ाफ़िल हो गयी थी। वह रसोई में यों फिरती थी, जैसे कांजी हाउस में गाय बाहर की ओर मुँह उठा-उठाकर अपने मालिक को ढूँढ़ा करती है। काम-वाम करने के बाद वह कभी अन्दर ट्रंकों पर लेट जाती, कभी बाहर कनेर के बूटे के पास और कभी आम

के पेड़ तले, जो आँगन में खड़ा सैकड़ों हज़ारों दिलों को थामे हुए था...

सावन भादों में ढलने लगा। आँगन में से बाहर का दरीचा खुलता तो कुँआरियाँ, नयी ब्याही हुई लड़कियाँ पैंग बढ़ाते हुए गातीं—'झूला किन डारो रे अमरैयाँ'...और फिर गीत के बोल के अनुसार दो झूलतीं और दो झुलातीं और कहीं चार मिल जातीं तो झूल-झुलइयाँ हो जाती। अधेड़ उम्र की और बूढ़ी औरतें एक तरफ़ खड़ी ताका करतीं। इन्दु को मालूम होता जैसे वह भी उनमें शामिल हो गयी है। तभी वह मुँह फेर लेती और ठण्डी साँसें भरती हुई सो जाती। बाबू जी पास से गुज़रते तो उसे जगाने-उठाने की ज़रा भी कोशिश न करते, बल्कि मौक़ा पाकर उस शलवार को, जो बहू धोती से बदल आती और जिसे वह हमेशा अपनी सास वाले पुराने सन्दल के सन्दूक पर फेंक देती, उठाकर खूँटी पर लटका देते। ऐसे में उन्हें सबसे नज़रें बचानी पड़तीं। लेकिन अभी शलवार को समेट कर मुड़ते ही थे कि नीचे कोने में निगाह बहू की चोली पर पड़ जाती। तब उनकी हिम्मत जवाब दे जाती और वह यों झट कमरे से निकल भागते, जैसे साँप का बच्चा बिल से बाहर आ गया हो। फिर बरामदे में उनकी आवाज़ सुनायी देने लगती, "ओऽम नमो भगवते वासुदेवा..."

अड़ोस-पड़ोस की औरतों ने बाबू जी की बहू की ख़ूबसूरती की दास्तानें दूर-दूर तक पहुँचा दी थीं। जब कोई औरत बाबू जी के सामने बहू के प्यारेपन और सुडौल जिस्म की बातें करती तो वे ख़ुशी से फूल जाते और कहते, "हम तो धन्य हो गये, अमीचन्द की माँ! शुक्र है हमारे घर में भी कोई सेहत वाला जीव आया।" और यह कहते हुए उनकी निगाहें कहीं दूर पहुँच जातीं, जहाँ यक्ष्मा का रोग था; दवाई की शीशियाँ; अस्पताल की सीढ़ियाँ या चींटियों के बिल। निगाह क़रीब आती तो उन्हें मोटे-मोटे गदराये हुए जिस्म वाले कई बच्चे बग़ल में, जाँघ पर, गर्दन पर चढ़ते-उतरते हुए महसूस होते और लगता जैसे अभी और आ रहे हैं। पहलू पर लेटी हुई बहू की कमर ज़मीन के साथ और कूल्हे छत के साथ लग रहे हैं और वह धड़ाधड़ बच्चे जनती जा रही है। और उन बच्चों की उम्र में कोई फ़र्क़ नहीं। कोई बड़ा है न

छोटा, सभी एक-से—जुड़वाँ—ओऽम नमो भगवते...

आस-पास के सभी लोग जान गये थे, इन्दु बाबू जी की चहेती बहू है। चुनाँचे दूध और छाछ के मटके धनीराम के घर आने लगे और फिर एक दम सलामदीन गूजर ने फ़रमायश कर दी। इन्दु से कहा, "बीबी! मेरा बेटा आर० एम० एस० में कुली रखवा दो, अल्लाह तुमको अच्छा फल देगा।" इन्दु के इशारे की देर थी कि सलामदीन का बेटा नौकर हो गया। वह भी सार्टर, जो न हो सका, उसकी क़िसमत। आसामियाँ ही ज़्यादा न थीं।

बहू के खाने-पीने और उसकी सेहत का बाबूजी खास ख़याल रखते थे। दूध पीने से इन्दु को चिढ़ थी। वह रात के वक्त ख़ुद दूध को बाटी में फेंट, गिलास में डाल, बहू को पिलाने के लिए उसकी खटिया के पास आ जाते! इन्दु अपने-आप को समेटते हुए उठती और कहती, "नहीं बाबूजी मुझसे नहीं पिया जाता।"

"तेरा तो ससुर भी पियेगा।" वे मज़ाक से कहते।

"तो फिर आप पी लीजिए ना।" इन्दु हँसती हुई जवाब देती और बाबूजी एक बनावटी ग़ुस्से से बरस पड़ते, "तू चाहती है बाद में तेरी भी वही हालत हो जो तेरी सास की हुई?"

"हुँ...हुँ" इन्दू लाड से रूठने लगती। आख़िर क्यों न रूठती। वे लोग नहीं रूठते, जिन्हें मनाने वाला कोई न हो। लेकिन यहाँ तो मनाने वाले सब थे, रूठने वाला सिर्फ़ एक। जब इन्दु बाबूजी के हाथ से गिलास न लेती तो वे खटिया के पास सिरहाने के नीचे रख देते—और, "ले यह पड़ा है—तेरी मर्ज़ी है तो पी—नहीं मर्ज़ी तो न पी।" कहते हुए चल देते।

अपने बिस्तर पर पहुँच कर धनीराम, दुलारी मुन्नी के साथ खेलने लगते। दुलारी को बाबूजी के नंगे पिण्डे के साथ पिण्डा घिसाने और फिर पेट पर मुँह रख कर फटकड़ा फुलाने की आदत थी। आज जब बाबूजी और मुन्नी यह खेल खेल रहे थे, हँस-हँसा रहे थे तो मुन्नी ने भाभी की तरफ़ देखते हुए कहा, "दूध तो ख़राब हो जायगा बाऊजी, भाभी तो पीती ही नहीं।"

"पियेगी, ज़रूर पियेगी बिटिया..." बाबूजी ने दूसरे हाथ से पाशी को

लिपटाते हुए कहा, "औरतें घर की किसी चीज़ को ख़राब होते नहीं देख सकतीं।"

अभी यह वाक्य बाबूजी के मुँह ही में होता कि एक ओर से 'हुश—है ख़सम ख़ानी' की आवाज़ आने लगती। पता चलता बहू बिल्ली को भगा रही है और फिर कोई ग़ट-ग़ट-सी सुनायी देती और सब जान लेते बहू—भाभी ने दूध पी लिया। कुछ देर के बाद कुन्दन बाबूजी के पास आता और कहता—"बाऊजी...भाभी रो रही है।"

"हाँय!" बाबू जी कहते और फिर उठकर अँधेरे में दूर उसी तरफ़ देखने लगते जिधर बहू की चारपाई पड़ी होती। कुछ देर यौंही बैठे रहने के बाद वे फिर लेट जाते और कुछ समझते हुए कुन्दन से कहते, "जा तू सोजा... वह भी सो जायगी अपने आप।"

और फिर लेटते हुए बाबू धनीराम आसमान पर खिले हुए परमात्मा के उद्यान को देखने लगते और अपने मन के भगवान से पूछते, "चाँदी के इन खुलते बन्द होते फूलों में मेरा फूल कहाँ है?" और फिर पूरा आसमान उन्हें दर्द का एक दरिया दिखायी देने लगता और कानों में एक लगातार 'हाओ हू' की आवाज़ सुनायी देती, जिसे सुनते हुए वे कहते, "जब से दुनिया बनी है इन्सान कितना रोया है!"

—और वे रोते-रोते सो जाते।

इन्दु के जाने के बीस-पच्चीस रोज़ ही में मदन ने वावेला शुरू कर दिया। उसने लिखा, मैं बाज़ार की रोटियाँ खाते-खाते तंग आ गया हूँ। मुझे क़ब्ज़ हो गयी है, गुर्दे का दर्द शुरू हो गया है। फिर जैसे दफ़्तर के लोग छुट्टी की अर्ज़ी के साथ डाक्टर का सर्टीफ़िकेट भेज देते हैं, मदन ने बाबूजी के एक दोस्त से समर्थन की चिट्ठी लिखवा भेजी। इस पर भी जब कुछ न हुआ तो एक डबल तार—जवाबी!

जवाबी तार के पैसे मारे गये, लेकिन बला से। इन्दु और बच्चे लौट आये थे। मदन ने इन्दु से दो दिन सीधे मुँह बात ही न की। यह दुख भी

इन्दु ही का था। एक दिन मदन को अकेले में पाकर वह पकड़ बैठी और बोली, "इतना मुँह फुलाये बैठे हो...मैंने क्या किया है?"

मदन ने अपने-आप को छुड़ाते हुए कहा, "छोड़!—दूर हो जा मेरी आँखों से...कमीनी..."

"यही कहने के लिए इतनी दूर से बुलवाया है?"

"हाँ।"

"हटाओ अब।"

"खबरदार...यह सब तुम्हारा ही किया-धरा है। जो तुम आना चाहतीं तो क्या बाबूजी रोक लेते?"

इन्दु ने बेबसी से कहा, "हायजी...तुम तो बच्चों की-सी बातें करते हो। मैं भला उन्हें कैसे कह सकती थी। सच पूछो तो तुमने मुझे बुलवा कर बाबूजी पर बड़ा ज़ुल्म किया है।"

"क्या मतलब?"

"मतलब कुछ नहीं...उनका जी बहुत लगा हुआ था बाल-बच्चों में।"

"और मेरा जी?"

"तुम्हारा जी?...तुम तो कहीं भी लगा सकते हो।" इन्दु ने शरारत से कहा और कुछ इस तरह से मदन की तरफ़ देखा कि उसकी बचाव की सारी शक्ति ख़त्म हो गयी। यों भी उसे किसी अच्छे-से बहाने की तलाश थी। उसने इन्दु को पकड़कर अपने सीने से लगा लिया और बोला, "बाबूजी तुमसे बहुत खुश थे?"

"हाँ?" इन्दू बोली, "एक दिन मैं जागी तो देखा सिरहाने खड़े मुझे देख रहे हैं।"

"यह नहीं हो सकता।"

"अपनी क़सम।"

"अपनी क़सम नहीं...मेरी क़सम खाओ।"

"तुम्हारी क़सम तो मैं नहीं खाती...कोई कुछ भी दे।"

"हाँ!" मदन ने सोचते हुए कहा, "किताबों में इसे सेक्स कहते हैं।"

"सेक्स ?" इन्दु ने पूछा, "वह क्या होता है ?"

"वही जो मर्द और औरत के बीच होता है।"

"हाय राम !" इन्दु ने एकदम पीछे हटते हुए कहा, "गन्दे कहीं के... शरम नहीं आयी बाबूजी के बारे में ऐसा सोचते हुए ?"

"तो बाबूजी को न आयी तुझे यों देखते हुए ?"

"क्यों ?" इन्दु ने बाबूजी की तरफ़दारी करते हुए कहा, "वे अपनी बहू को देख कर खुश हो रहे होंगे।"

"क्यों नहीं, जब बहू तुम ऐसी हो।"

"तुम्हारा मन गन्दा है," इन्दु ने नफ़रत से कहा, "इसीलिए तुम्हारा कारबार भी गन्दे बिरोजे का है। तुम्हारी किताबों को इसके सिवा कुछ दिखायी नहीं देता। ऐसे तो जब मैं बड़ी हो गयी थी तो मेरे पिता जी ने मुझे से अधिक प्यार करना शुरू कर दिया था। तो क्या वह भी...वह था निगोड़ा—जिसका तुम अभी नाम ले रहे थे।" और फिर इन्दु बोली, "बाबूजी को यहाँ बुला लो। उनका वहाँ ज़रा भी जी नहीं लगता। वे दुखी होंगे तो क्या तुम दुखी नहीं होगे ?"

मदन अपने बाप से बहुत प्यार करता था। घर में माँ की मौत ने, बड़ा होने के कारण सब से ज़्यादा असर मदन ही पर किया था। उसे अच्छी तरह याद था। माँ के बीमार रहने के कारण जब भी उसकी मौत का ख़याल मदन के दिल में आता तो आँखें मूँद कर प्रार्थना शुरू कर देता—ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय...ओऽम् नमो...अब वह नहीं चाहता था कि बाप की छत्र-छाया भी सिर से उठ जाये। ख़ास तौर पर ऐसे में, जबकि वह अपने कारबार को भी जमा नहीं पाया था। उसने संदिग्ध स्वर में इन्दु से सिर्फ़ इतना कहा, "अभी रहने दो बाबूजी को। शादी के बाद हम दोनों पहली बार आज़ादी के साथ मिल सके हैं।"

तीसरे-चौथे रोज़ बाबूजी का आँसुओं में डूबा हुआ पत्र आया। 'मेरे प्यारे मदन' के सम्बोधन में 'मेरे प्यारे' के शब्द खारे पानियों में धुल गये थे। लिखा था : 'बहू के यहाँ होने पर मेरे तो वही पुराने दिन लौट आये थे—

तुम्हारी माँ के दिन। जब हमारी नयी-नयी शादी हुई थी तो वह भी ऐसी ही अल्हड़ थी। ऐसे ही उतारे हुए कपड़े इधर-उधर फेंक देती और पिता जी समेटते फिरते। वही सन्दल का सन्दूक़, वही बीसियों झंझट। मैं बाज़ार जा रहा हूँ, आ रहा हूँ, कुछ नहीं तो दही-बड़े या रबड़ी ला रहा हूँ। अब घर में कोई नहीं। वह जगह, जहाँ सन्दल का सन्दूक़ पड़ा था, ख़ाली है...' और फिर एक-आध पंक्ति और धुल गयी थी। अन्त में लिखा था : 'दफ़्तर से लौटते समय, यहाँ के बड़े-बड़े अँधेरे कमरों में दाख़िल होते हुए मेरे मन में एक हौल सा-उठता है !'...और फिर...'बहू का ख़याल रखना। उसे किसी ऐसी-वैसी दायी के हवाले मत करना।'

इन्दु ने दोनों हाथों से चिट्ठी पकड़ ली। साँस खींचती, आँखें फैलाती, शर्म से पानी-पानी होती हुई बोली, "मैं मर गयी। बाबूजी को कैसे पता चल गया ?"

मदन ने चिट्ठी छुड़ाते हुए कहा—"बाबूजी क्या बच्चे हैं ?...दुनिया देखी है, हमें पैदा किया है।"

"हाँ मगर," इन्दु बोली, "अभी दिन ही कै हुए हैं !"

और फिर उसने एक तेज़-सी नज़र अपने पेट पर डाली, जिसने अभी बढ़ना भी शुरू नहीं किया था और जैसे बाबूजी या कोई और देख रहा है, उसने साड़ी का पल्लू उस पर खींच लिया और कुछ सोचने लगी। तभी एक चमक-सी उसके चेहरे पर आयी और वह बोली, "तुम्हारी ससुराल से मिठाई आयेगी।"

"मेरी ससुराल ?...ओ हाँ।" मदन ने रास्ता पाते हुए कहा, "कितनी शर्म की बात है। अभी छै-आठ महीने शादी को हुए हैं और चला आया है।" और उसने इन्दु के पेट की ओर इशारा किया।

"चला आया है, या तुम लाये हो !"

"तुम—यह सब दोष तुम्हारा है। कुछ औरतें होती ही ऐसी हैं।"

"तुम्हें पसन्द नहीं ?"

"एकदम नहीं !"

"क्यों ?"

"चार दिन तो मज़े लेते ज़िन्दगी के।"

"क्या यह ज़िन्दगी का मजा नहीं ?" इन्दु ने दुखी स्वर में कहा, "मर्द औरत शादी किस लिए करते हैं ? भगवान ने बिन माँगे दे दिया ना ? पूछो उनसे, जिनके नहीं होता। फिर वे क्या कुछ करती हैं ? पीरों-फ़कीरों के पास जाती हैं। समाधियों-मज़ारों पर चोटियाँ बाँधती, शरम-हया को तज कर दरियाओं के किनारे नंगी होकर सरकण्डे काटती, श्मशानों में मसान जगाती..."

"अच्छा ! अच्छा !" मदन बोला, "तुमने बखान ही शुरू कर दिया। औलाद के लिए थोड़ी उम्र पड़ी थी ?"

"होगा तो," इन्दु ने चेतावनी के अन्दाज़ में उँगली उठाते हुए कहा, "तब तुम उसे हाथ भी मत लगाना। वह तुम्हारा नहीं, मेरा होगा। तुम्हें उसकी ज़रूरत नहीं, पर उसके दादा को बहुत है, यह मैं जानती हूँ।"

और फिर कुछ झेंप कर, कुछ दुखी हो कर इन्दु ने अपना मुँह दोनों हाथों में छिपा लिया। वह सोचती थी, पेट में इस नन्ही-सी जान को पा लेने के सिलसिले में, इस जान का होता-सोता थोड़ी बहुत हमदर्दी तो करेगा ही। लेकिन मदन चुपचाप बैठा रहा। एक शब्द भी उसने मुँह से न निकाला। इन्दु ने चेहरे पर से हाथ उठाकर मदन की ओर देखा और होने वाली पहलौठिन के खास अन्दाज़ में बोली, "वह तो जो कुछ मैं कह रही हूँ, सब पीछे होगा। पहले तो मैं बचूँगी ही नहीं...मुझे बचपन ही से वहम है इस बात का।"

मदन भी जैसे डर गया। यह ख़ूबसूरत 'चीज़', जो गर्भवती हो जाने के बाद और भी ख़ूबसूरत हो गयी है, मर जायगी ? उसने पीठ की तरफ़ से इन्दु को थाम लिया और फिर खींच कर अपनी बाहों में भर लिया और बोला, "तुझे कुछ न होगा इन्दु...मैं तो मौत के मुँह से भी छीन के ले आऊँगा तुझे...अब सावित्री की नहीं, सत्यवान की बारी है।"

मदन से लिपट कर इन्दु भूल ही गयी कि उसका अपना भी कोई

दुख है...

इसके बाद बाबूजी ने कुछ न लिखा। अलबत्ता सहारनपुर से एक सार्टर आया, जिसने सिर्फ़ इतना बताया कि बाबूजी को फिर से दौरे पड़ने लगे हैं। एक दौरे में तो वे लगभग चल ही बसे थे। मदन डर गया, इन्दु रोने लगी। सार्टर के चले जाने के बाद हमेशा की तरह मदन ने आँखें मूँद लीं और मन-ही-मन में पढ़ने लगा—ओऽम् नमो भगवते...

दूसरे ही रोज़ मदन ने पिता को चिट्ठी लिखी..."बाबूजी! चले आइए... बच्चे बहुत याद करते हैं और आपकी बहू भी।" लेकिन आखिर नौकरी थी। अपने बस की बात थोड़े ही थी। धनीराम अपने पत्र के अनुसार छुट्टी का प्रबन्ध कर रहे थे।...उनके बारे में दिन-ब-दिन मदन के मन में जुर्म का अहसास बढ़ने लगा। अगर मैं इन्दु को वहीं रहने देता तो मेरा क्या बिगड़ जाता?

विजय दशमी से एक दिन पहले, मदन बेचैनी की हालत में बीच वाले कमरे के बाहर बरामदे में टहल रहा था कि अन्दर से बच्चे के रोने की आवाज़ आयी और वह चौंक कर दरवाज़े की तरफ लपका। बेगम दायी बाहर आयी और बोली, "मुबारक हो बाबूजी लड़का हुआ है।"

"लड़का!" मदन ने कहा और चिन्तित स्वर में बोला, "बीबी कैसी है?"

बेगम बोली, "ख़ैर मेहर है।...मैंने अभी तक उसे लड़की ही बतायी है...ज़च्चा ज़्यादा ख़ुश हो जाय तो उसकी आँविल नहीं गिरती न!"

"ओ...!" मदन ने बेवक़ूफ़ों की तरह आँखें झपकाते हुए कहा और कमरे में जाने के लिए आगे बढ़ा। बेगम ने उसे वहीं रोक दिया और कहने लगी, "तुम्हारा अन्दर क्या काम है?" और फिर एकाएक दरवाज़ा भेड़कर अन्दर लपक गयी।

मदन की टाँगें अभी तक काँप रही थीं। उस वक्त डर से नहीं—तसल्ली से या शायद इसलिए कि जब कोई इस दुनिया में आता है तो इर्द-गिर्द के लोगों की यही हालत होती है। मदन ने सुन रखा था कि जब लड़का पैदा होता है तब घर के दर-ो-दीवार काँपने लगते हैं। मानो डर रहे हों कि बड़ा

होकर हमें बेचेगा या रखेगा। मदन को लगा, जैसे सचमुच ही दीवारें काँप रही थीं।...ज़च्चा की देख-भाल के लिए चकली भाभी तो न आयी थी, क्योंकि उसका अपना बच्चा बहुत छोटा था। हाँ दरियाबाद वाली बुआ ज़रूर पहुँची थी, जिसने जन्म के वक्त 'राम-राम, राम-राम' की रट लगा दी और अब वही रट मद्धिम हो रही थी।

ज़िन्दगी भर मदन को अपना आप इस क़दर व्यर्थ और बेकार न लगा था। इतने में फिर दरवाज़ा खुला और बुआ निकली। बरामदे की बिजली की मद्धिम-सी रोशनी में उसका चेहरा भूत के चेहरे की तरह एकदम दूधिया सफ़ेद नज़र आ रहा था। मदन ने उसका रास्ता रोकते हुए कहा, "इन्दु ठीक है ना बुआ?"

"ठीक है, ठीक है!" बुआ ने तीन-चार बार कहा और फिर अपना काँपता हुआ हाथ मदन के सिर पर रखकर उसे नीचा किया, चूमा और बाहर लपक गयी।

बुआ बरामदे के दरवाज़े में से बाहर जाती हुई नज़र आ रही थी। वह बैठक में पहुँची, जहाँ बाक़ी बच्चे सो रहे थे। बुआ ने एक-एक के सिर पर प्यार से हाथ फेरा और फिर छत की तरफ़ आँखें उठाकर मुँह में कुछ बोली और फिर निढाल-सी होकर मुन्नी के पास लेट गयी...

उसके फड़कते हुए कन्धों से पता चल रहा था, जैसे रो रही है। मदन हैरान हुआ...बुआ तो कई बच्चे पैदा कर चुकी है, फिर क्यों उसकी आत्मा तक काँप उठी?

फिर उधर के कमरे से हरमल की गंध बाहर लपकी। धुएँ का एक ग़ुबार-सा आया, जिसने मदन को घेर लिया। उसका सिर चकरा गया। तभी बेगम दायी कपड़े में कुछ लपेटे हुए बाहर निकली। कपड़े पर ख़ून-ही-ख़ून था जिसमें से कुछ क़तरे निकलकर फ़र्श पर गिर गये। मदन के होश उड़ गये। उसे मालूम न था वह कहाँ है। आँखें खुली थीं, पर कुछ दिखायी न दे रहा था। बीच में इन्दु की एक मरघल्ली-सी आवाज़—'हा....य!' और फिर बच्चे के रोने की आवाज़!

तीन-चार दिन में बहुत कुछ हुआ। मदन ने घर के एक तरफ़ गढ़ा खोद कर आँवल को दबा दिया। कुत्तों को अन्दर आने से रोका, लेकिन उसे कुछ याद न था। उसे यों लगा जैसे हरमल की बू दिमाग़ में बस जाने के बाद आज ही उसे होश आया है। कमरे में वह अकेला ही था और इन्दु—नन्द और यशोदा—और दूसरी तरफ़ नन्दलाल! इन्दु ने बच्चे की ओर देखा और कुछ टोह लेने के अन्दाज़ में बोली, "बिल्कुल तुम ही पर गया है।"

"होगा!" मदन ने एक उचटती-सी नज़र बच्चे पर डालते हुए कहा, "मैं तो कहता हूँ शुक्र है भगवान का कि तुम बच गयीं।"

"हाँ!" इन्दु बोली, "मैं तो समझती थी..."

"शुभ-शुभ बोलो!" मदन ने एक दम इन्दु की बात काटते हुए कहा, "यहाँ तो जो कुछ हुआ है...मैं तो अब तुम्हारे पास भी नहीं फटकूँगा।" और मदन ने ज़बान दाँतों तले दबा ली।

"तोबा करो।" इन्दु बोली।

मदन ने उसी दम कान अपने हाथ से पकड़ लिये...और इन्दु क्षीण स्वर में हँसने लगी।

बच्चा पैदा होने के बाद कई रोज़ तक इन्दु की नाभि ठिकाने पर न आयी। वह घूम-घूमकर उस बच्चे की तलाश कर रही थी, जो अब उससे परे, बाहर की दुनिया में जाकर अपनी असली माँ को भूल गया था। अब सब कुछ ठीक था और इन्दु शान्ति से इस दुनिया को तक रही थी। लगता था, उसने मदन ही के नहीं, दुनिया भर के पापियों के पाप माफ़ कर दिये हैं। और अब देवी बनकर दया और करुणा के प्रसाद बाँट रही है।...मदन ने इन्दु के मुँह की तरफ़ देखा और सोचने लगा—इस सारे खून-ख़राबे के बाद कुछ दुबली होकर इन्दु और भी अच्छी लगने लगी है...तभी एकाएक इन्दु ने दोनों हाथ अपनी छातियों पर रख लिये।

"क्या हुआ?" मदन ने पूछा।

"कुछ नहीं।" इन्दु थोड़ा-सा उठने की कोशिश करके बोली, "उसे भूख लगी है।" और उसने बच्चे की ओर इशारा किया।

"उसे ?...भूख ?"...मदन ने पहले बच्चे की तरफ़ और फिर इन्दु की ओर देखते हुए कहा, "तुम्हें कैसे पता चला ?"

"देखते नहीं ?" इन्दु नीचे की ओर निगाह करते हुए बोली, "सब गीला हो गया है।"

मदन ने ग़ौर से इन्दू के ढीले-ढाले कुर्ते की ओर देखा, झर-झर दूध बह रहा था और एक ख़ास किस्म की बू आ रही थी। फिर इन्दु ने बच्चे की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा, "उसे मुझे दे दो !"

मदन ने हाथ पालने की ओर बढ़ाया और उसी दम खींच लिया। फिर कुछ हिम्मत से काम लेते हुए बच्चे को यों उठाया, जैसे वह कोई मरा हुआ चूहा हो। आख़िर उसने बच्चे को इन्दु की गोद में दे दिया। इन्दु मदन की ओर देखते हुए बोली, "तुम जाओ...बाहर !"

"क्यों ?...बाहर क्यों जाऊँ ?" मदन ने पूछा।

"जाओ ना..." इन्दु ने कुछ मचलते हुए, कुछ शरमाते हुए कहा, "तुम्हारे सामने मैं दूध नहीं पिला सकूँगी।"

"अरे ?" मदन हैरत से बोला, "मेरे सामने ?...नहीं पिला सकेगी।" और फिर नासमझी के अन्दाज़ में सिर को झटका देकर बाहर की तरफ़ चल निकला। दरवाज़े के पास पहुँचकर मुड़ते हुए उसने इन्दु पर एक निगाह डाली—इतनी ख़ूबसूरत इन्दु उसे आज तक न लगी थी !

बाबू धनीराम छुट्टी पर घर लौटे तो वे पहले से आधे दिखायी पड़ते थे। जब इन्दु ने पोता उनकी गोद में दिया तो खिल उठे। उनके पेट के अन्दर कोई फोड़ा निकल आया था, जो चौबीस घंटे उन्हें सूली पर लटकाये रखता। अगर मुन्ना न होता तो बाबूजी की इससे दस गुना बुरी हालत होती।

कई इलाज किये गये। बाबूजी के आख़िरी इलाज में डाक्टर ने अधन्नी के बराबर पन्द्रह गोलियाँ रोज़ खाने को दीं। पहले ही दिन उन्हें इतना पसीना आया कि दिन में तीन-तीन, चार-चार बार कपड़े बदलने पड़े। हर बार मदन कपड़े उतार कर बाल्टी में निचोड़ता। सिर्फ़ पसीने-पसीने ही से बाल्टी एक

चौथाई हो गयी-थी। रात उन्हें मतली-सी महसूस होने लगी और उन्होंने पुकारा, "बहू! ज़रा दातुन तो देना। मुँह का मज़ा बहुत ख़राब हो रहा है।"

बहू भागी हुई गयी और दातुन ले आयी। बाबू जी उठकर दातुन चबा ही रहे थे कि एक उबकाई आयी और साथ ही खून का परनाला ले आयी। बेटे ने वापस सिरहाने की तरफ़ लिटाया तो उनकी पुतलियाँ फिर चुकी थीं और कुछ ही क्षणों में वे ऊपर आसमान के गुलज़ार में पहुँच चुके थे, जहाँ उन्होंने अपना फूल पहचान लिया था।

मुन्ने को पैदा हुए कुल बीस-पच्चीस रोज़ हुए थे। इन्दु ने मुँह नोचकर, सिर और छाती पीट-पीटकर ख़ुद को नीला कर लिया। मदन के सामने वही दृश्य था, जो उसने कल्पना में अपने मरने पर देखा था। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना था कि इन्दु ने चूड़ियाँ तोड़ने की बजाय उतार के रख दी थीं। सिर पर राख नहीं डाली थी, लेकिन ज़मीन पर से मिट्टी लग जाने और बालों के बिखर जाने से चेहरा भयानक हो गया था। 'लोगो! मैं लुट गयी!' की जगह उसने एक हृदय-विदारक स्वर में चिल्लाना शुरू कर दिया था—"लोगो! हम लुट गये!"

घर-बार का कितना बोझ मदन पर आ पड़ा था, उसका अभी तक मदन को पूरी तरह से अनुमान न था। सुबह होने तक उसका दिल लपक कर मुँह में आ गया। वह शायद बच न पाता यदि वह घर के बाहर नाली के किनारे सील चढ़ी मिट्टी पर औंधा लेट कर, अपने दिल को ठिकाने पर न लाता... धरती माँ ने छाती से लगाकर अपने बच्चे को बचा लिया था। छोटे बच्चे कुन्दन, दुलारी मुन्नी, पाशी यों चिल्ला रहे थे जैसे घोंसले पर शिकरे के हमले पर चिड़ियों के बच्चे चोंचें उठा-उठाकर 'चीं चीं' करते हैं। उन्हें अगर कोई परों के नीचे समेटती थी तो इन्दु...

नाली के किनारे पड़े-पड़े मदन ने सोचा, अब तो यह दुनिया मेरे लिए ख़त्म हो गयी। क्या मैं जी सकूँगा? ज़िन्दगी में कभी हँस भी सकूँगा? वह उठा और उठकर घर के अन्दर चला आया।

सीढ़ियों के नीचे गुसलख़ाना था जिसमें घुसकर अन्दर से किवाड़ बन्द करते हुए मदन ने एक बार फिर उस सवाल को दुहराया—'मैं कभी हँस भी

सकूँगा?'—और वह खिलखिलाकर हँस रहा था। हालांकि उसके बाप की लाश अभी पास ही बैठक में पड़ी थी।

बाप को आग के हवाले करने से पहले मदन, अर्थी पर पड़े हुए शव के सामने दंडवत् के अन्दाज़ में लेट गया। यह उसका अपने जन्मदाता को अन्तिम प्रणाम था। तिस पर भी वह रो न रहा था। उसकी यह हालत देखकर मातम में शरीक होने वाले नातेदार, मुहल्ले वाले सन्न-से रह गये। फिर हिन्दू रिवाज के अनुसार सबसे बड़ा बेटा होने की हैसियत से मदन को चिता जलानी पड़ी। जलती हुई खोपड़ी में कपाल क्रिया करनी पड़ी—औरतें बाहर ही से श्मशान के कुएँ पर नहा कर लौट चुकी थीं। जब मदन घर पहुँचा तो वह काँप रहा था, धरती माँ ने थोड़ी देर के लिए जो शक्ति अपने बेटे को दी थी, रात के घिर आने पर फिर से हौल में ढल गयी थी...उसे कोई सहारा चाहिए था। किसी ऐसे जज़्बे का सहारा, जो मौत से भी बड़ा हो। उस वक्त धरती माँ की बेटी जनक दुलारी इन्दु ने किसी घड़े में से पैदा होकर उस राम को अपनी बाँहों में ले लिया...उस रात अगर इन्दु अपने-आप को यों मदन पर निछावर न कर देती तो इतना बड़ा दुख मदन को ले डूबता।

दस ही महीने के अन्दर-अन्दर इन्दु का दूसरा बच्चा चला आया। बीवी को उस दोज़ख की आग में ढकेल कर मदन स्वयं अपना दुख भूल गया था। कभी-कभी उसे ख़याल आता, यदि मैं शादी के बाद बाबूजी के पास गयी हुई इन्दु को न बुला लेता तो शायद वे इतनी जल्दी न चल देते। लेकिन फिर वह बाप की मौत से पैदा होने वाले घाटे को पूरा करने में लग जाता। कारबार, जो पहले बेपरवाही की वजह से बन्द हो गया था, मजबूरन चल निकला।

उन दिनों बड़े बच्चे को मदन के पास छोड़ कर, छोटे को छाती से लगाये इन्दु मायके चली गयी थी। पीछे मुन्ना तरह-तरह की ज़िद करता था, जो कभी मानी जाती थी और कभी नहीं—मायके से इन्दु का पत्र आया—'मुझे यहाँ अपने बेटे के रोने की आवाज़ आ रही है, उसे कोई मारता तो नहीं?' मदन को बड़ी हैरत हुई। एक जाहिल, अनपढ़ औरत...ऐसी बातें कैसे लिख सकती

है ?...फिर उसने अपने-आप से पूछा—'क्या यह भी कोई रटा हुआ वाक्य है ?'

साल गुज़र गये। पैसे कभी इतने न आये कि उनसे कुछ ऐश हो सके, लेकिन गुज़ारे के अनुसार आय हो जाती थी। कठिनाई उस समय होनी जब कोई बड़ा ख़र्च सामने आ जाता।...कुन्दन का दाख़िला देना है, दुलारी मुन्नी का शगुन भिजवाना है। उस समय मदन मुँह लटका कर बैठ जाता। और फिर इन्दु एक तरफ़ से आती मुस्कुराती हुई, और कहती, "क्यों दुखी हो रहे हो ?" मदन आशा-भरी नज़रों से उसकी तरफ़ देखते हुए कहता, "दुखी न होऊँ ? कुन्दन का बी० ए० का दाख़िला देना है...मुन्नी..." इन्दु फिर हँसती और कहती, "चलो मेरे साथ।" और मदन भेड़ के बच्चे की तरह इन्दु के पीछे चल देता। इन्दु सन्दल के सन्दूक़ के पास पहुँचती, जिसे किसी को, मदन समेत, हाथ लगाने की इजाज़त न थी—कभी-कभी इस बात पर ख़फ़ा होकर मदन कहता, "मरोगी तो इसे भी छाती पर डालकर ले जाना।" और इन्दु कहती "हाँ! ले जाऊँगी।" फिर इन्दु वहाँ से ज़रूरत भर की रक़म निकालकर सामने रख देती।

"यह कहाँ से आ गये ?"

"कहीं से भी आये...तुम्हें आम खाने से मतलब है।"

"फिर भी ?"

"तुम जाओ अपना काम चलाओ।"

और जब मदन ज़्यादा ज़ोर देता तो इन्दु कहती, "मैंने एक सेठ दोस्त बनाया है न !" और फिर हँसने लगती। झूठ जानते हुए भी मदन को यह मज़ाक़ अच्छा न लगता। फिर इन्दु कहती, "मैं चोर-लुटेरा हूँ—तुम नहीं जानते ? सखी लुटेरा—जो एक हाथ से लूटता है और दूसरे हाथ से गरीब-गुरबा को दे देता है..." इसी तरह मुन्नी की शादी हुई, जिस पर ऐसी ही लूट के ज़ेवर बिके। क़र्ज़ा चढ़ा और फिर उतर भी गया।

ऐसे ही कुन्दन भी ब्याहा गया। इन शादियों में इन्दु ही 'हथ भरा' करती थी और माँ की जगह खड़ी हो जाती। आसमान से बाबूजी और माँ

देखा करते और फूल बरसाते, जो किसी को नज़र न आते। फिर यह हुआ कि ऊपर माँ और बाबूजी में झगड़ा चल गया। माँ ने बाबूजी से कहा, "तुम तो बहू के हाथ की पक्की खा आये हो, उसका सुख भी देखा है, पर मैं नसीबों-जली ने कुछ भी नहीं देखा।" और यह झगड़ा विष्णु, महेश और शिव तक पहुँचा। उन्होंने माँ के हक़ में फ़ैसला दिया—और यों माँ, मातृ-लोक में आकर बहू की कोख में पड़ी—और इन्दु के यहाँ एक बेटी पैदा हुई...

फिर इन्दु ऐसी देवी भी न थी। जब कोई उसूल की बात होती तो ननद-देवर क्या, खुद मदन से भी लड़ पड़ती—मदन सत्य की इस पुतली को नाराज़ हो कर हरिश्चन्द्र की बेटी कहा करता था। चूँकि इन्दु की बातों में उलझाव होने के बावजूद सच्चाई और धर्म क़ायम रहते थे, इसलिए मदन और कुटुम्ब के बाक़ी सब लोगों की आँखें इन्दु के सामने नीची रहती थीं। झगड़ा कितना भी बढ़ जाय, मदन अपने पति होने के रोब में कितना भी इन्दु की बात को रद्द कर दे, लेकिन आखिर में सभी सिर झुकाये हुए इन्दु ही की शरण में आते थे, और उसी से क्षमा माँगते थे।

नयी भाभी आयी। कहने को तो वह भी बीवी थी। लेकिन इन्दु एक औरत थी, जिसे बीवी कहते हैं। इसके उलट छोटी भाभी रानी एक बीवी थी, जिसे औरत कहते हैं। रानी के कारण भाइयों में झगड़ा हुआ और जे० पी० चाचा की मारफ़त जायदाद बँटी, जिसमें माँ-बाप की जायदाद तो एक तरफ़, इन्दु की अपनी बनायी हुई चीज़ों की भी बँटवारे की नौबत आ गयी। और इन्दु कलेजा मसोस कर रह गयी।

जहाँ सब कुछ मिल जाने के बाद और अलग होकर भी कुन्दन और रानी ठीक से नहीं बस सके थे, वहाँ इन्दु का नया घर कुछ दिनों ही में जगमग-जगमग करने लगा।

बच्ची के जन्म के बाद इन्दु का स्वास्थ्य वह न रहा। बच्ची हर समय इन्दु की छातियों से चिमटी रहती थी। जहाँ सभी गोश्त के इस लोथड़े पर थू-थू करते थे वहाँ एक इन्दु थी, जो उसे कलेजे से लगाये फिरती। लेकिन कभी स्वयं भी परेशान हो उठती और बच्ची को सामने झलंगे में फेंकते हुए

कह उठती. "तू मुझे जीने भी देगी—माँ—?"

और बच्ची चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगती।

मदन इन्दु से कटने लगा। शादी से लेकर इस समय तक उसे वह औरत न मिली थी, जिसकी वह तलाश में था। गन्दा बिरोज़ा बिकने लगा और मदन ने बहुत-सा रुपया इन्दु से छिपाकर ऊपर-ही-ऊपर ख़र्च करना शुरू कर दिया। बाबूजी के चले जाने पर कोई पूछने वाला भी तो न था। पूरी आज़ादी थी।

मानो पड़ोसी सिब्ते की भैंस फिर मदन के मुँह के पास फुंकारने लगी, बल्कि बार-बार फुंकारने लगी। शादी की रात वाली भैंस तो बिक चुकी थी, लेकिन उसका मालिक ज़िन्दा था। मदन उसके साथ ऐसी जगहों पर जाने लगा, जहाँ रोशनी और साये अजीब बेकायदा-सी शकलें बनाते हैं। नुक्कड़ पर कभी अँधेरे की तिकोन बनती है कि ऊपर खट से रोशनी की एक चौकोर लहर आकर उसे काट देती है। कोई तस्वीर पूरी नहीं बनती। मालूम होता है बग़ल से एक पायजामा निकला और आसमान की ओर उड़ गया या किसी कोट ने देखने वाले का मुँह पूरी तरह से ढाँप लिया और कोई साँस के लिए तड़पने लगा। तभी रोशनी की चौकोर लहर एक चौखटा-सी बन गयी और उसमें एक सूरत आकर खड़ी हो गयी। देखने वाले ने हाथ बढ़ाया तो वह आर-पार चला गया, जैसे वहाँ कुछ भी न था। पीछे कोई कुत्ता रोने लगा, ऊपर ढोल ने उसकी आवाज़ डुबो दी।

मदन को उसकी कल्पना की रूप-रेखा मिली, लेकिन हर जगह ऐसा लग रहा था जैसे कलाकार से एक रेखा ग़लत लग गयी, या हँसी की आवाज़ ज़रूरत से ज़्यादा ऊँची थी। और मदन दोषरहित शिल्प और सन्तुलित हँसी की तालाश में खो गया।

सिब्ते ने उस समय अपनी बीवी से बात की, जब उसकी बीवी ने मदन को आदर्श पति के रूप में सिब्ते के सामने पेश किया। पेश ही नहीं किया, बल्कि मुँह पर मारा। उसको उठाकर सिब्ते ने बेगम के मुँह पर दे मारा। मालूम होता था किसी ख़ूनी तरबूज़ का गूदा है, जिसके रग-रेशे बेगम की नाक, आँखों

और कानों पर लगे हुए हैं। करोड़-करोड़ गाली बकती हुई बेगम ने स्मृति के टोकरे में से गूदा और बीज उठाये और इन्दु के साफ़-सुथरे सहन में बिखेर दिये।

एक इन्दु की जगह दो इन्दु हो गयीं। एक तो इन्दु ख़ुद थी और दूसरी एक काँपती हुई रेखा, जो इन्दु के पूरे शरीर को घेरे हुए थी और जो नज़र नहीं आ रही थी...

मदन कहीं जाता भी था तो घर से होकर...नहा-धो, अच्छे कपड़े पहन, मगही की एक गिलौरी, जिसमें खुशबूदार क़िमाम लगा होता, मुँह में रख कर...लेकिन उस दिन जो मदन घर आया तो इन्दु की शकल ही दूसरी थी। उसने चेहरे पर पाउडर थोप रखा था, गालों पर रूज लगा रखी थी, लिपिस्टिक के न होने पर होंठ, माथे की बिन्दी से रंग लिये थे—और बाल कुछ इस तरीक़े से बनाये थे कि मदन की नज़रें उनमें उलझ के रह गयीं।

"क्या बात है आज?" मदन ने चकित होकर पूछा।

"कुछ नहीं।" इन्दु ने मदन से नज़रें बचाते हुए कहा, "आज फ़ुर्सत मिली है।"

शादी के पन्द्रह वर्ष गुज़र जाने के बाद इन्दु को आज फ़ुर्सत मिली थी और वह भी उस वक़्त, जब कि चेहरे पर झाइयाँ चली आयी थीं। नाक पर एक सियाह काठी बन गयी थी और ब्लाउज़ के नीचे नंगे पेट के पास कमर पर चर्बी की दो-तीन तहें-सी दिखायी देने लगी थीं।...आज इन्दु ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि इन दोषों में से एक भी नज़र न आता था। यों बनी-ठनी, कसी-कसायी वह बेहद हसीन लग रही थी—'यह नहीं हो सकता,' मदन ने सोचा और उसे एक धक्का-सा लगा। उसने फिर एक बार मुड़कर इन्दु की ओर देखा—जैसे घोड़ों के व्यापारी किसी नामी घोड़ी की ओर देखते हैं—वहाँ घोड़ी भी थी और लाल लगाम भी...यहाँ जो ग़लत रेखा लगी थी वह शराबी की आँखों को न दिख सकी...इन्दु सचमुच ख़ूबसूरत थी। आज भी पन्द्रह साल के बाद फूलाँ, रशीदा, मिसेज़ राबर्ट और उनकी बहनें उसके सामने पानी भरती थीं...फिर मदन को दया आने लगी और एक डर...

आसमान पर कोई ख़ास बादल भी न थे। लेकिन पानी गिरना शुरू हो गया। इधर घर की गंगा बाढ़ पर थी और उसका पानी किनारों से निकल-निकल कर पूरी तराई और उसके आस-पास बसने वाले गाँवों और क़स्बों को अपनी लपेट में ले रहा था। ऐसा मालूम होता था, इसी रफ़्तार से पानी बहता रहा तो उसमें कैलाश पर्वत भी डूब जायगा...उधर बच्ची रोने लगी। ऐसा रोना, जो वह आज तक न रोयी थी। मदन ने उसकी आवाज़ सुनकर आँखें बन्द कर लीं। खोलीं तो वह सामने खड़ी थी। जवान औरत बन कर—नहीं-नहीं, वह इन्दु थी। अपनी माँ की बेटी, अपनी बेटी की माँ, जो अपनी आँखों के कोनों से मुस्करायी और होंठों के कोने से देखने लगी।

इसी कमरे में, जहाँ एक दिन हरमल की धूनी ने मदन को चकरा दिया था, आज ख़स की खुशबू ने बौखला दिया था। हल्की बारिश तेज़ बारिश से ज़्यादा खतरनाक होती है, इसलिए बाहर का पानी ऊपर किसी कड़ी में से रिसता हुआ इन्दु और मदन के बीच टपकने लगा...लेकिन मदन तो शराबी हो रहा था। इस नशे में उसकी आँखें सिमटने लगीं और साँस तेज़ होकर इन्सान की साँस न रही।

"इन्दु !" मदन ने कहा...और उसकी आवाज़ शादी की रात वाली पुकार से दो सुर ऊपर थी—और इन्दु ने परे देखते हुए कहा, "जी !"—और उसकी आवाज़ दो सुर नीचे थी...फिर आज चाँदनी के बजाय अमावस थी...

इससे पहले कि मदन इन्दु की तरफ़ हाथ बढ़ाता, इन्दु ख़ुद ही मदन से लिपट गयी। और फिर मदन ने हाथ से इन्दु की ठोड़ी ऊपर उठायी और देखने लगा—उसने क्या खोया, क्या पाया है ? इन्दु ने एक नज़र मदन के सियाह होते हुए चेहरे की ओर फेंकी और फिर आँखें बन्द कर लीं।

"यह क्या !" मदन ने चौंकते हुए कहा, "तुम्हारी आँखें सूजी हुई हैं !"

"योंही !" इन्दु ने कहा और बच्ची की ओर इशारा करते हुए बोली, "रात भर जगाया है इस चुड़ैल मय्या ने।"

बच्ची अब तक ख़ामोश हो चुकी थी। मानो वह दम साधे देख रही थी,

अब क्या होने वाला है? आसमान से पानी पड़ना बन्द हो गया था! सचमुच आसमान से पानी पड़ना बन्द हो गया था? मदन ने फिर ग़ौर से इन्दु की तरफ़ देखते हुए कहा, "हाँ मगर...ये आँसू?"

"ख़ुशी के हैं।" इन्दु ने जवाब दिया, "आज की रात मेरी है।" और एक अजीब-सी हँसी हँसती हुई वह मदन से चिमट गयी। एक आनन्द के अहसास से मदन ने कहा, "आज वर्षों के बाद मेरे मन की मुराद पूरी हुई इन्दु! मैंने हमेशा चाहा था..."

"लेकिन तुमने कहा नहीं।" इन्दु बोली, "याद है शादी की रात मैंने तुमसे कुछ माँगा था?"

"हाँ!" मदन बोला, "अपने दुख मुझे दे दो।"

"तुमने तो कुछ नहीं माँगा मुझसे।"

"मैंने?" मदन ने हैरान होते हुए कहा, "मैं क्या माँगता? मैं तो जो कुछ माँग सकता था वह सब तुमने दे दिया। मेरे अज़ीज़ों से प्यार...उनकी शिक्षा, ब्याह-शादियाँ, ये प्यारे-प्यारे बच्चे...ये सब कुछ तो तुमने दे दिया।"

"मैं भी यही समझती थी।" इन्दु बोली, "लेकिन अब जाकर पता चला, ऐसा नहीं।"

"क्या मतलब।"

"कुछ नहीं!" फिर इन्दु ने रुक कर कहा, "मैंने भी एक चीज़ रख ली!"

"क्या चीज़ रख ली?"

इन्दु कुछ देर चुप रही और फिर अपना मुँह परे करते हुए बोली, "अपनी लाज—अपनी ख़ुशी...उस वक्त तुम भी कह देते—अपने सुख मुझे दे दो—तो मैं..." और इन्दु का गला रुँध गया।

और कुछ देर बाद वह बोली, "अब तो मेरे पास कुछ भी नहीं रहा।"

मदन के हाथों की पकड़ ढीली पड़ गयी। वह ज़मीन में गड़ गया। यह अनपढ़ औरत?...कोई रटा हुआ वाक्य...? नहीं तो...यह तो अभी सामने ही ज़िन्दगी की भट्टी से निकला है। अभी तो इस पर बराबर हथौड़े पड़ रहे हैं और जलता हुआ बुरादा चारों तरफ़ उड़ रहा है...

कुछ देर के बाद मदन के होश ठिकाने आये और वह बोला, "मैं समझ गया इन्दु।"

फिर रोते हुए मदन और इन्दु...एक-दूसरे से लिपट गये...इन्दु ने मदन का हाथ पकड़ा और उसे ऐसी दुनियाओं में ले गयी जहाँ इन्सान मर कर ही पहुँच सकता है।

सआदत हसन मंटो

●●●

टोबा टेक सिंह

बँटवारे के दो-तीन साल बाद पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की सरकारों को ख़याल आया कि नैतिक अपराधियों की तरह पागलों का तबादला भी होना चाहिए। याने जो मुसलमान पागल हिन्दुस्तान के पागलख़ानों में हैं, उन्हें पाकिस्तान पहुँचा दिया जाय और जो हिन्दू और सिक्ख पागल पाकिस्तान के पागलख़ानों में मौजूद हैं, उनको हिन्दुस्तान के हवाले कर दिया जाय।

मालूम नहीं, यह बात उचित थी अथवा अनुचित, लेकिन विद्वानों के निर्णय के अनुसार इधर-उधर ऊँचे स्तर पर कानफ्रेंसें हुईं, और अन्त में एक दिन पागलों के तबादले के लिए निश्चित हो गया। अच्छी तरह छान-बीन की गयी। वे मुसलमान पागल, जिनके सम्बन्धी हिन्दुस्तान ही में थे, वहीं रहने दिये गये, जो शेष थे, उनको सीमा पर भेज दिया गया। यहाँ पाकिस्तान में, चूँकि लगभग तमाम हिन्दू-सिक्ख जा चुके थे, इसलिए किसी को रखने-रखाने का सवाल ही पैदा न हुआ। जितने हिन्दू-सिक्ख पागल थे, सब-के-सब पुलिस के संरक्षण में बार्डर पर पहुँचा दिये गये।

उधर का मालूम नहीं। लेकिन इधर लाहौर के पागलख़ाने में जब इस तबादले की खबर पहुँची तो बड़ी दिलचस्प बातें होने लगीं। एक मुसलमान पागल, जो बारह वर्ष से नियमपूर्वक प्रतिदिन ज़मींदार पढ़ता था, उससे जब उसके एक मित्र ने पूछा, 'मौलवी साहब, यह पाकिस्तान क्या होता है?' तो उसने बड़े सोच-विचार के बाद उत्तर दिया—"हिन्दुस्तान में एक ऐसी जगह है, जहाँ उस्तरे बनते हैं।"

यह उत्तर सुनकर उसका मित्र सन्तुष्ट हो गया।

इसी प्रकार एक सिक्ख पागल ने एक दूसरे सिक्ख पागल से पूछा, "सरदारजी, हमें हिन्दुस्तान क्यों भेजा जा रहा है? हमें तो वहाँ की बोली नहीं आती?"

दूसरा मुस्कराया, "मुझे तो हिन्दुस्तौड़ों की बोली आती है, हिन्दुस्तानी बड़े शैतान, आकड़-आकड़ फिरते हैं।"

एक दिन नहाते-नहाते एक मुसलमान पागल ने 'पाकिस्तान ज़िन्दाबाद' का नारा इस ज़ोर से लगाया कि फ़र्श पर फिसलकर गिरा और बेहोश हो गया।

कई पागल ऐसे भी थे, जो पागल नहीं थे। उनमें बहुमत ऐसे हत्यारों का था, जिनके सम्बन्धियों ने अफ़सरों को कुछ दे-दिलाकर पागलख़ाने भिजवा दिया था कि फाँसी के फंदे से बच जायें। ये कुछ-कुछ समझते थे कि हिन्दुस्तान का बँटवारा क्यों हुआ है और यह पाकिस्तान क्या है। लेकिन सही घटनाओं से वे भी अनभिज्ञ थे। अख़बारों से कुछ पता नहीं चलता था और पहरेदार सिपाही अपढ़ और मूर्ख थे। उनकी बातचीत से भी कोई नतीजा नहीं निकलता था। उनको सिर्फ़ इतना मालूम था कि एक आदमी मुहम्मद अली जिन्ना है, जिसको क़ायदे आज़म कहते हैं। उसने मुसलमानों के लिए एक अलग देश बनाया है, जिसका नाम पाकिस्तान है। यह कहाँ है, कहाँ-से-कहाँ तक फैला हुआ है, इसके बारे में कुछ नहीं जानते थे। यही कारण है कि पागलख़ाने में वे सब पागल, जिनका दिमाग़ पूरी तरह ख़राब नहीं था, इस असमंजस में पड़े थे कि वे हिन्दुस्तान में हैं अथवा पाकिस्तान में। अगर हिन्दुस्तान में हैं

तो पाकिस्तान कहाँ है, अगर वे पाकिस्तान में हैं तो यह कैसे हो सकता है कि कुछ अरसा पहले वे यहीं रहते हुए भी हिन्दुस्तान में थे।

एक पागल तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के चक्कर में कुछ ऐसा गिरफ़्तार हुआ कि और अधिक पागल हो गया। झाड़ू देते-देते एक दिन वह पेड़ पर चढ़ गया और टहनी पर बैठकर दो घंटे लगातार भाषण देता रहा, जो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की गम्भीर समस्या पर था। सिपाहियों ने उसे नीचे उतरने को कहा तो वह और ऊपर चढ़ गया। डराया-धमकाया गया तो उसने कहा, "मैं हिन्दुस्तान में रहना चाहता हूँ और न पाकिस्तान में, मैं इस पेड़ ही पर रहूँगा।"

बड़ी कठिनाइयों के बाद जब उसका दौरा सर्द पड़ा तो वह नीचे उतरा और अपने हिन्दू-सिक्ख मित्रों से गले मिल-मिलकर रोने लगा। इस ख़याल से उसका दिल भर आया था कि वे उसे छोड़कर हिन्दुस्तान चले जायेंगे।

एक एम० एस-सी० पास रेडियो इंजीनियर में, जो मुसलमान था और दूसरे पागलों से एकदम अलग-थलग बाग़ की एक विशेष वीथि में सारा दिन ख़ामोश टहला करता था, यह परिवर्तन हुआ कि उसने तमाम कपड़े उतारकर दफ़ेदार के हवाले कर दिये और नंग-धड़ंग सारे बाग़ में चलना-फिरना शुरू कर दिया।

चिन्नोट के एक मोटे-से मुसलमान पागल ने (जो मुसलिम लीग़ का सक्रिय सदस्य रह चुका था और दिन में पन्द्रह-सोलह बार नहाया करता था) सहसा यह आदत छोड़ दी। उसका नाम मुहम्मद अली था। अतः उसने एक दिन अपने जँगले में एलान कर दिया कि वह मुहम्मद अली जिन्ना है। उसकी देखा-देखी एक सिक्ख पागल मास्टर तारासिंह बन गया। क़रीब था कि उस जँगले में ख़ून-ख़राबा हो जाय, मगर उन्हें ख़तरनाक पागल क़रार देकर अलग-अलग बन्द कर दिया गया।

लाहौर का एक नौजवान हिन्दू वकील था, जो प्रेम में असफल होकर पागल हो गया था। जब उसने सुना कि अमृतसर हिन्दुस्तान में चला गया है तो उसे बहुत दुख हुआ। उसी शहर की एक हिन्दू लड़की से उसे प्रेम हुआ

था। यद्यपि लड़की ने उसे ठुकरा दिया था, लेकिन पागलपन की दशा में भी वह उसको नहीं भूला था। चुनांचे वह उन तमाम हिन्दू-मुसलमान नेताओं को गालियाँ देता था, जिन्होंने मिल-मिलाकर हिन्दुस्तान के दो टुकड़े कर दिये, उसकी प्रेयसी हिन्दुस्तानी बन गयी और वह पाकिस्तानी।

जब तबादले की बात शुरू हुई तो वकील को कई पागलों ने समझाया कि वह दिल बुरा न करे, उसको हिन्दुतान भेज दिया जायगा, उस हिन्दुस्तान में, जहाँ उसकी प्रेयसी रहती है। मगर वह लाहौर छोड़ना नहीं चाहता था, इसलिए कि उसका ख़याल था कि अमृतसर में उसकी प्रेक्टिस नहीं चलेगी।

यूरोपियन वार्ड में दो एंग्लो इंडियन पागल थे। उनको जब मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान को आज़ाद कर के अंग्रेज़ चले गये हैं तो उन्हें बड़ा दुख हुआ। वे छिप-छिप कर घंटों इस महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करते कि पागलख़ाने में अब उनकी हैसियत क्या होगी। यूरोपियन वार्ड रहेगा या उड़ा दिया जायगा; ब्रेकफ़ास्ट मिला करेगा अथवा नहीं; उन्हें डबल रोटी के बजाय ब्लडी इंडियन चपाती तो नहीं खानी पड़ेगी ?

एक सिक्ख था, जिसे पागलख़ाने में आये पन्द्रह वर्ष हो चुके थे। उसके मुख से हर वक्त यह विचित्र शब्द सुनने में आते थे, 'ओ पड़ दी, गुडगुड दी, अनेकस दी, बेध्याना दी, मूँग दी दाल आफ़ दी लालटेन!' दिन को सोता था, न रात को। पहरेदारों का यह कहना था कि पन्द्रह वर्ष के लम्बे अरसे में वह एक क्षण के लिए भी नहीं सोया। लेटता भी नहीं था, अलबत्ता कभी-कभी किसी दीवार के साथ टेक लगा लेता था।

हर वक्त खड़ा रहने से उसके पाँव सूज गये थे। पिंडलियाँ भी फूल गयी थीं, मगर वह इस शारीरिक कष्ट के बावजूद लेटकर आराम नहीं करता था। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और पागलों के तबादले के बारे में जब कभी पागलख़ाने में बात-चीत होती तो वह ध्यान से सुनता। कोई उससे पूछता कि उसका क्या ख़याल है तो वह बड़ी गम्भीरता से उत्तर देता, 'ओ पड़ दी, गुडगुड दी, अनकस दी, बेध्याना दी, मूँग दी दाल ऑफ़ दी पाकिस्तान गवर्नमेंट।'

लेकिन बाद में 'ऑफ़ दी पाकिस्तान गवर्नमेंट' का स्थान 'ऑफ़ दी

टोबा टेक सिंह गवर्नमेंट' ने ले लिया और उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू किया कि टोबा टेक सिंह कहाँ है, जहाँ का वह रहने वाला है। लेकिन किसी को भी मालूम नहीं था कि वह पाकिस्तान में है अथवा हिन्दुस्तान में। जो बताने का यत्न करते थे, वे इस चक्र में उलझ कर रह जाते थे कि सियालकोट पहले हिन्दुस्तान में था, पर अब सुना है कि पाकिस्तान में है। क्या मालूम है कि लाहौर, जो आज पाकिस्तान में है, कल हिन्दुस्तान में चला जाय या सारा हिन्दुस्तान ही पाकिस्तान बन जाय। और यह भी कौन सीने पर हाथ रखकर कह सकता था कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों किसी दिन सिरे से ग़ायब ही हो जायँ।

उस सिक्ख के केश छिदरे होकर बहुत थोड़े रह गये थे। चूँकि बहुत कम नहाता था, इसलिए दाढ़ी और सिर के बाल आपस में जम गये थे, जिसके कारण उसकी शक्ल बड़ी भयानक हो गयी थी। मगर आदमी निरीह था। पन्द्रह वर्षों में उसने किसी से झगड़ा-फ़साद नहीं किया था। पागलख़ाने के जो पुराने-पुराने मुलज़िम थे, वे उसके बारे में इतना जानते थे कि टोबा टेक-सिंह में उसके कई खेत थे, अच्छा खाता-पीता ज़मींदार था कि सहसा दिमाग़ उलट गया। उसके सम्बन्धी उसे लोहे की मोटी-मोटी ज़ंजीरों में बाँधकर लाये और पागलख़ाने में भर्ती करा गये।

महीने में एक बार ये लोग मुलाक़ात के लिए आते थे और उसकी ख़ैर-ख़बर पूछकर चले जाते थे। एक अरसे तक यह सिलसिला जारी रहा। पर जब पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की गड़बड़ शुरू हुई तो उनका आना बन्द हो गया।

उसका नाम बिशन सिंह था, मगर सब उसे टोबा टेक सिंह कहते थे। उसको यह बिलकुल मालूम न था कि दिन कौन-सा है, महीना कौन-सा है या कितने साल बीत चुके हैं। लेकिन हर महीने जब उसके सम्बन्धी और प्रियजन उससे मिलने के लिए आते थे तो उसे अपने-आप पता चल जाता था। अतः वह दफ़ेदार से कहता कि उसकी मुलाक़ात आ रही है। उस दिन वह अच्छी तरह नहाता, शरीर पर ख़ूब साबुन मलता और सिर में तेल डालकर कंघा करता। अपने कपड़े, जो वह कभी इस्तेमाल नहीं करता था, निकलवा

के पहनता और यों बन-सँवरकर मिलने वालों के पास जाता। वे कुछ पूछते, तो चुप रहता या कभी-कभार 'ओ पड़ दी, गुडगुड दी, अनेकस दी, बेध्याना दी, मूँग दी दाल ऑफ़ दी लालटेन' कह देता।

उसकी एक लड़की थी, जो हर महीने एक उँगली बढ़ती-बढ़ती पन्द्रह वर्ष में जवान हो गयी थी। बिशन सिंह उसको पहचानता ही न था। वह बच्ची थी तो अपने बाप को देखकर रोती थी। जवान हुई तब भी उसकी आँखों से आँसू बहते थे।

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का क़िस्सा शुरू हुआ तो उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू किया कि टोबा टेक सिंह कहाँ है ? जब संतोषजनक उत्तर न मिला तो उसकी कुरेद दिन-दिन बढ़ती गयी। अब मुलाक़ात भी नहीं आती थी। पहले तो उसे अपने-आप पता चल जाता था कि मिलने वाले आ रहे हैं। पर अब जैसे उसके दिल की आवाज़ भी बन्द हो गयी थी, जो उसे उनके आने की सूचना दे दिया करती थी।

उसकी बड़ी इच्छा थी कि वे लोग आयें, जो उससे सहानुभूति प्रकट करते थे और उसके लिए फल, मिठाइयाँ और कपड़े लाते थे। वह अगर उनसे पूछता कि टोबा टेक सिंह कहाँ है तो वे अवश्य उसे बता देते कि पाकिस्तान में है या हिन्दुस्तान में, क्योंकि उसका ख़याल था कि वे टोबा टेक सिंह ही से आते हैं, जहाँ उसकी ज़मीनें हैं।

पागलखाने में एक पागल ऐसा भी था, जो ख़ुद को ख़ुदा कहता था। उससे जब एक दिन बिशन सिंह ने पूछा कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में है या हिन्दुस्तान में ? तो उसने स्वभावानुसार ठहाका लगाया और कहा, "वह पाकिस्तान में है न हिन्दुस्तान में इसलिए कि हमने हुक्म नहीं दिया।"

बिशन सिंह ने उस ख़ुदा से कई बार बड़ी मिन्नत-समाजत से कहा कि वह हुक्म दे दे, ताकि झंझट ख़त्म हो, लेकिन वह अत्यधिक व्यस्त था, इसलिए कि उसे और बेशुमार हुक्म देने थे। एक दिन तंग आकर वह उसपर बरस पड़ा, "ओ पड़ दी, गुडगुड दी, अनेकस दी, बेध्याना दी, मूँग दी दाल ऑफ़ वाहे गुरु दा ख़ालसा एण्ड वाहे गुरुजी दी फ़तेह ! जो बोले सो निहाल,

सत्य श्री अकाल !'

इसका शायद यह अर्थ था कि तुम मुसलमानों के ख़ुदा हो, सिक्खों के ख़ुदा होते तो ज़रूर मेरी सुनते !

तबादले से कुछ दिन पहले टोबा टेक सिंह का एक मित्र, जो मुसलमान था, मुलाक़ात के लिए आया। पहले वह कभी नहीं आया था। जब बिशन सिंह ने उसे देखा तो एक ओर हट गया और वापस जाने लगा, मगर सिपाहियों ने उसे रोका, "यह तुमसे मिलने आया है, तुम्हारा दोस्त फ़ज़लदीन है।"

बिशन सिंह ने फ़ज़लदीन की ओर देखा और कुछ बड़बड़ाने लगा। फ़जलदीन ने आगे बढ़कर उसके कन्धे पर हाथ रखा, "मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि तुम से मिलूँ, लेकिन फ़ुर्सत ही न मिली। तुम्हारे सब आदमी ख़ैरियत से हिन्दुस्तान चले गये हैं। मुझसे जितनी मदद हो सकी, मैंने की। तुम्हारी बेटी रूप कौर..."

वह कुछ कहते-कहते रुक गया। बिशन सिंह कुछ याद करने लगा—'बेटी रूप कौर।'

फ़ज़लदीन ने रुक-रुककर कहा, "हाँ...वह...वह भी ठीक-ठीक है, उनके साथ ही चली गयी थी।"

बिशन सिंह चुपचाप खड़ा रहा। फ़ज़लदीन ने कहना शुरू किया, "उन्होंने मुझसे कहा था, तुम्हारी ख़ैर-ख़ैरियत पूछते रहना। अब मैंने सुना है कि तुम हिन्दुस्तान जा रहे हो। भाई बलबीर सिंह और भाई बधावा सिंह से मेरा सलाम कहना और बहन अमृत कौर से भी।...भाई बलबीर सिंह से कहना कि फ़ज़लदीन राज़ी-ख़ुशी है। दो भूरी भैंसें, जो वे छोड़ गये थे, उनमें से एक ने पाड़ा दिया है, दूसरी के पाड़ी हुई थी, पर वह छः दिन की हो के मर गयी।... और...मेरे लायक़ जो ख़िदमत हो, कहना, मैं हर वक़्त तैयार हूँ। और तुम्हारे लिए यह थोड़े-से मरूँडे[1] लाया हूँ।"

बिशन सिंह ने मरूँडों की पोटली लेकर पास खड़े सिपाही के हवाले कर

---

१. भुने हुए गेहूँ, चने या मकई के गुड़ मिले लड्डू।

दी और फ़ज़लदीन से पूछा, "टोबा टेक सिंह कहाँ है ?"

फ़ज़लदीन ने तनिक विस्मय से कहा, "कहाँ है, वहीं है, जहाँ था।"

बिशन सिंह ने फिर पूछा, "पाकिस्तान में या हिन्दुस्तान में ?"

"हिन्दुस्तान में...नहीं, नहीं, पाकिस्तान में !"...फ़ज़लदीन बौखला-सा गया।

बिशन सिंह बड़बड़ाता हुआ चला गया—"ओ पड़ दी, गुडगुड दी, अनेकस दी, वेध्याना दी, मूँग दी दाल ऑफ़ दी पाकिस्तान एण्ड हिन्दुस्तान आफ़ दी दुरफ़िट्टे मुँह !'

तबादले की तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। इधर-से-उधर और उधर-से-इधर आने वाले पागलों की सूचियाँ पहुँच गयी थीं और तबादले का दिन भी निश्चित हो चुका था।

सख़्त सर्दी पड़ रही थी, जब लाहौर के पागलख़ाने से हिन्दू-सिक्ख पागलों से भरी हुई लारियाँ पुलिस के रक्षक दस्तों के साथ रवाना हुईं। सम्बन्धित अफ़सर भी साथ थे। वागह के बार्डर पर दोनों ओर के सुपरिंटेंडेंट एक-दूसरे से मिले और आरम्भिक कार्रवाई ख़त्म होने के बाद तबादला शुरू हो गया, जो रात भर जारी रहा।

पागलों को लारियों से निकालना और उनको दूसरे अफ़सरों के हवाले करना बड़ा कठिन काम था। कई तो लारियों से निकलते ही न थे, जो निकलना स्वीकार कर लेते थे, उनको सम्हालना मुश्किल हो जाता था, क्योंकि इधर-उधर भाग खड़े होते थे। जो नंगे थे, उनको कपड़े पहनाये जाते तो वे फाड़कर अपने तन से अलग कर देते। कोई गालियाँ बक रहा है, कोई गा रहा है, आपस में लड़-झगड़ रहे हैं, रो रहे हैं, बिलख रहे हैं, कान पड़ी आवाज़ सुनायी नहीं देती। पागल औरतों का शोर-गुल अलग था और सर्दी इतनी कड़ाके की थी कि दाँत-से-दाँत बज रहे थे।

पागलों का बहुमत इस तबादले के हक़ में नहीं था। इसलिए कि उनको समझ में न आ रहा था कि उन्हें अपनी जगह से उखाड़कर कहाँ फेंका जा रहा है। वे कुछेक, जो कुछ सोच-समझ सकते थे, 'पाकिस्तान ज़िन्दाबाद' और

'पाकिस्तान मुर्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। दो-तीन बार फ़साद होते-होते बचा, क्योंकि कुछ मुसलमानों और सिक्खों को यह नारे सुनकर तैश आ गया था।

जब बिशन सिंह की बारी आयी और वागह के इस पार सम्बन्धित अफ़सर उसका नाम रजिस्टर में दर्ज करने लगा तो उसने पूछा, "टोबा टेक सिंह कहाँ है? पाकिस्तान में या हिन्दुस्तान में?"

अफ़सर हँसा, "पाकिस्तान में!"

यह सुनकर बिशन सिंह उछलकर एक ओर हटा और दौड़कर अपने बाक़ी साथियों के पास पहुँच गया। पाकिस्तानी सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरी ओर ले जाने लगे। मगर उसने चलने से इन्कार कर दिया। "टोबाटेक सिंह यहाँ है?" और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा, "ओ पड़ दी, गुडगुड दी, अनेक्स दी, बेध्याना दी, मूँग दी दाल ऑफ़ टोबा टेक सिंह एण्ड पाकिस्तान!'

उसे बहुत समझाया गया कि देखो, अब टोबा टेक सिंह हिन्दुस्तान में चला गया है, अगर नहीं गया तो उसे तुरन्त वहाँ भेज दिया जायेगा, मगर वह न माना। जब उसको बरबस दूसरी ओर ले जाने की कोशिश की गयी तो वह बीच में एक जगह इस प्रकार अपनी सूजी हुई टाँगों पर खड़ा हो गया, जैसे अब कोई शक्ति उसे वहाँ से नहीं हिला सकेगी।

आदमी चूँकि निरीह था, इसलिए उससे अधिक ज़बरदस्ती न की गयी। उसको वहीं खड़ा रहने दिया गया और तबादले का बाक़ी काम होता रहा।

सूरज निकलने से पहले निश्चेष्ट और अचल बिशन सिंह के कंठ से एक गगन-भेदी चीख़ निकली। इधर-उधर से कई अफ़सर दौड़े आये और देखा कि वह आदमी, जो पन्द्रह वर्ष तक दिन-रात अपनी टाँगों पर खड़ा रहा था, औंधे मुँह लेटा है। उधर काँटेदार तारों के पीछे हिन्दुस्तान था, इधर ऐसे ही तारों के पीछे पाकिस्तान! बीच में ज़मीन के इस टुकड़े पर, जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेक सिंह पड़ा था।

●

इस्मत चग़ताई

●●●

बिच्छू फूफी

जब पहली बार मैंने उन्हें देखा तो वे रहमान भाई के पहले मंज़िले की खिड़की में बैठी लम्बी-लम्बी गालियाँ और कोसने दे रही थीं। यह खिड़की हमारे आँगन में खुलती थी और क़ायदे के मुताबिक़ उसे बन्द रखा जाता था, क्योंकि पर्देवाली बीवियों का सामना होने का डर था। रहमान भाई रंडियों के जमादार थे। कोई शादी-ब्याह, खतना-बिस्मिल्लाह की रस्म होती तो रहमान भाई औने-पौने इन रंडियों को बुला लेते और ग़रीब के घर में भी एक बार वहीदा जान, मुश्तरी बाई और अनवरी कहरवा नाच जातीं।

मगर मुहल्ले-टोले की लड़कियाँ-बालियाँ उनकी नज़र में अपनी सगी माँ-बहनें थीं। उनके छोटे भाई बुन्दू और गेंदा आये दिन ताक-झाँक के सिलसिले में सर-फुटौवल किया करते।...वैसे रहमान भाई मुहल्ले की नज़रों में कोई अच्छी हैसियत नहीं रखते थे। उन्होंने अपनी बीवी की ज़िन्दगी ही में अपनी साली से जोड़-तोड़ कर लिया था। इस अनाथ साली का सिवाय इस बहन के और कोई मरा-जीता था भी नहीं। बहन के यहाँ पड़ी थी। उसके बच्चे पालती,

बस दूध पिलाने की कसर थी, बाक़ी सारा गू-मूत वही करती थी। और फिर किसी नकचढ़ी ने उसे बहन के बच्चे के मुँह में एक दिन छाती देते देख लिया और भाँडा फूट गया और पता चला कि बच्चों में आधे बिलकुल मौसी की सूरत पर हैं। घर में रहमान भाई की दुल्हन चाहे बहन की दुर्गत बनाती हों, पर कभी पंचों में इकरार न किया। यही कहा करती थीं—जो कुँआरी को कहेगा, उसके दीदे घुटनों के आगे आयेंगे!—हाँ, दूल्हे की तलाश में हमेशा सूखा करती थीं। दूल्हा इस कीड़ों-भरे कबाब को कहाँ जुड़ता? एक आँख में ये बड़ी कौड़ी-सी फूली थी, पैर भी एक ज़रा छोटा था, कूल्हा दबाकर चलती थीं।

सारे मुहल्ले की तरफ़ से एक अजीब तरह का बॉयकॉट हो चुका था। रहमान भाई से काम पड़ता तो लोग धौंस जमाकर कह देते, 'मुहल्ले में रहने की इजाज़त दे रखी है, यही कम मेहरबानी है...!' रहमान भाई इसे अपनी इज़्ज़त समझते थे।

यही वजह थी कि वे हमेशा रहमान भाई की खिड़की में बैठकर लम्बी-चौड़ी गालियाँ दिया करती थीं, क्योंकि मुहल्ले के लोग अब्बा से दबते थे। मजिस्ट्रेट से कौन बैर मोल ले?

उस दिन पहली बार मुझे मालूम हुआ कि ये हमारी इकलौती, सगी फूफी बादशाही ख़ानम हैं और ये लम्बी-लम्बी गालियाँ हमारे ख़ानदान को दी जा रही हैं।

अम्माँ का चेहरा फ़क़ था और वह अन्दर कमरे में सहमी बैठी थीं, जैसे बिच्छू फूफी की आवाज़ उनपर बिजली बनकर टूट पड़ेगी। छठे-छमाहे इसी तरह बादशाही ख़ानम रहमान भाई की खिड़की में बैठकर बँकारतीं। अब्बा मियाँ उनसे होड़ लेकर मज़े से आरामकुर्सी पर लम्बे होकर अख़बार पढ़ते रहते और मौक़े-महल पर किसी लड़के-वाले के ज़रिये कोई ऐसी बात जवाब में कह देते कि फूफी बादशाही फ़िर फुलझड़ियाँ छोड़ने लगतीं। हम लोग सब खेल-कूद, पढ़ना-लिखना छोड़कर आँगन में गुच्छा बनाकर खड़े हो जाते और मुड़-मुड़ अपनी प्यारी फूफी के कोसने सुना करते। जिस खिड़की में वे

बैठी थीं, वह उनके भारी-भरकम शरीर से भरी हुई थी। अब्बा मियाँ से उनकी सूरत इतनी मिलती-जुलती थी कि जैसे वही मूँछें उतारकर दुपट्टा ओढ़कर बैठ गये हों और बावजूद कोसने और गालियाँ सुनने के हम लोग बड़े इतमीनान से उन्हें ताका करते थे।

साढ़े पाँच फ़ुट का क़द, चार अँगुल चौड़ी कलाई, शेर के ऐसा कल्ला, सफ़ेद बगुला बाल, बड़ा-सा मुँह, बड़े-बड़े दाँत, भारी-सी ठोढ़ी और आवाज़ तो खुदा की मेहरबानी से अब्बा मियाँ से एक सुर ही नीची होगी।

फूफी बादशाही हमेशा सफ़ेद कपड़े पहना करती थीं। जिस दिन फूफा मसऊद अली ने मेहतरानी के संग कुलेलें शुरू कीं, फूफी ने बट्टे से सारी चूड़ियाँ छन-छन तोड़ डालीं, रँगा दुपट्टा उतार दिया। उस दिन से वे उन्हें मरहूम या मरनेवाला कहा करती थीं। मेहतरानी को छूने के बाद उन्होंने वे हाथ-पैर अपने बदन को नहीं लगने दिये।

यह हादिसा ख़ासी जवानी में हुआ था और वे तब से रँडापा झेल रही थीं। हमारे फूफा हमारी अम्मा के चचा भी थे। वैसे तो न जाने क्या घपला था, मेरे अब्बा मेरी अम्मा के चचा लगते थे और शादी से पहले वे जब छोटी-सी थीं तो मेरे अब्बा को देखकर डर के मारे उनका दम निकल जाता था। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि उनकी मँगनी इसी भयानक देव से होनेवाली है तो उन्होंने अपनी दादी यानी अब्बा की फूफी की पिटारी से अफ़ीम चुराकर खा ली थी। अफ़ीम ज़्यादा न थी और वे कुछ दिन में लोट-पोटकर अच्छी हो गयीं। उन दिनों अब्बा अलीगढ़ कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी बीमारी की ख़बर सुनकर इम्तहान छोड़कर भागे। बड़ी मुश्किल से हमारे नाना, जो अब्बा के फूफीज़ाद भाई थे और बुज़ुर्ग दोस्त भी, उन्होंने समझा-बुझाकर वापस इम्तहान देने भेजा था। जितनी देर वे रहे, भूखे-प्यासे टहलते रहे। अधखुली आँखों से मेरी अम्मा ने उनका चौड़ा-चकला साया परदे के पीछे बेक़रारी से तड़पते देखा।

"उमराव भाई, अगर इन्हें कुछ हो गया...तो..." देव की आवाज़ लरज़ रही थी।

नाना मियाँ ख़ूब हँसे।

"नहीं भाई, ख़ातिर जमा रखो, कुछ न होगा।"

उस वक़्त मेरी मुन्नी-सी मासूम माँ एकदम औरत बन गयी थीं। उनके दिल से एकदम देवज़ाद इन्सान का ख़ौफ़ निकल गया। जभी तो मेरी फूफी बादशाही कहती थीं, मेरी अम्मा जादूगरनी है और इसका तो मेरे भाई से शादी से पहले ताल्लुक़ होकर पेट गिरा था। मेरी अम्मा अपने जवान बच्चों के सामने जब वे गालियाँ सुनतीं तो ऐसे बिसूर-बिसूर कर रोतीं कि हमें उनकी मार भूल जाती और प्यार आने लगता। मगर उनकी गालियाँ सुनकर अब्बा की गम्भीर आँखों में परियाँ नाचने लगतीं। वे बड़े प्यार से नन्हे भाई के ज़रिये कहलवाते—"क्यों, फूफी, आज क्या खाया है?"

"तेरी मैया का कलेजा!"—इस बेतुके सवाल से फूफी जलकर राख हो जातीं।

अब्बा फिर जवाब दिलवाते, "अरे फूफी, तभी तो मुँह में बवासीर हो गयी है! जुलाब लो, जुलाब!"

और वे मेरे जवान भाई की मचमचाती लाश पर कौवों और चीलों को दावत देने लगतीं। उनकी दुल्हन को, जो न जाने बेचारी उस वक़्त कहाँ बैठी अपने ख़याली दुल्हा के प्रेम में गुम होगी, रँडापे की बददुआएँ देतीं। अम्मा कानों में उँगलियाँ देकर बुदबुदातीं।

फिर अब्बा उकसाते और नन्हे भाई पूछते, "फूफी बादशाही, मेहतरानी फूफी का मिज़ाज तो अच्छा है?"

और हमें डर लगता कि कहीं फूफी खिड़की में से फाँद न पड़ें।

"अरे जा, सँपोले! मेरे मुँह न लग, नहीं तो जूती से मुँह मसल दूँगी। यह बुड्ढा अन्दर बैठा क्या लौंडों को सिखा रहा है! मुग़ल-बच्चा है, तो सामने आकर बात करे!"

"रहमान भाई! अरे रहमान भाई! इस बौरानी कुतिया को संखिया क्यों नहीं खिलाते"—अब्बा के सिखाने पर नन्हें भाई डरते हुए बोलते, हालाँकि उन्हें डरने की कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि सब जानते थे कि आवाज़

उनकी है, मगर शब्द अब्बा मियाँ के हैं, लिहाज़ा गुनाह नन्हे भाई की जान पर नहीं। मगर फिर भी बिलकुल अब्बा की शक्ल की फूफी की शान में कुछ कहते उन्हें पसीने आ जाते थे।

कितना ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था हमारी ददिहाल और ननिहाल वालों में ! ननिहाल हकीमों की गली में थी और ददिहाल गाड़ीवालों के कटरे में। ननिहाल वाले सलीम चिश्ती के ख़ानदान से थे, जिन्हें मुग़ल बादशाह ने मुर्शिद (गुरु) का पद देकर मुक्ति का रास्ता पहचाना। हिन्दुस्तान में रहे-बसे अरसा गुज़र चुका था; रंगतें सवँला चुकी थीं; नक़्शे हल्के पड़ चुके थे; मिज़ाज ठंडे हो गये थे।

ददिहाल वाले बाहर से सब से आख़िरी खेप में आनेवालों में से थे। ज़ेह्नी तौर पर अभी तक वे घोड़ों पर सवार मंज़िलें पार कर रहे थे। ख़ून में लावा दहक रहा था, तलवार-जैसे खड़े-खड़े नक़्शे, लाल फ़िरंगियों-जैसे मुँह, गुरिल्लों-जैसे क़द, शेरों-जैसी गरजदार आवाज़ें, शहतीर-जैसे हाथ-पाँव !

और ननिहाल वाले—नाज़ुक हाथ-पैरों वाले, शायराना तबियत के, धीमी आवाज़ में बोलने-चालने के आदी, ज़्यादातर हकीम, विद्वान् और मौलवी थे। तभी तो मुहल्ले का नाम हकीमों की गली पड़ गया था। कुछ कारबार में भी हिस्सा लेने लगे थे। शाल बुनने, कपड़ों पर सुनहले-रुपहले काम करने वाले और अत्तार बन चुके थे। हालाँकि मेरे ददिहाल वाले ऐसे लोगों को कुँजड़े-क़साई ही कहा करते थे, चूँकि वे ख़ुद ज़्यादातर फ़ौज में थे। वैसे मार-धाड़ का शौक़ अभी तक ख़त्म नहीं हुआ था। कुश्ती-पहलवानी, तैराकी में नाम पैदा करना, पंजा लड़ाना, तलवार और पटे के हाथ दिखाना और चौसर-पचीसी को, जो मेरी ननिहाल के सबसे ज़्यादा मन-पसन्द खेल थे, हिजड़ों के खेल समझना।

कहते हैं, जब ज्वालामुखी फटता है तो लावा घाटी की गोद में उतर आता है। शायद यही वजह थी कि मेरे ददिहाल वाले ननिहाल वालों की तरफ़ ख़ुद-ब-ख़ुद खिंचकर आ गये। यह मेल कब और किसने शुरू किया, सब शजरे में लिखा है, लेकिन मुझे ठीक से याद नहीं। मेरे दादा हिन्दुस्तान में

पैदा नहीं हुए थे। दादियाँ भी उसी ख़ानदान से थीं। मगर एक छोटी-सी बहन बिन-ब्याही थी। न जाने क्योंकर वह शेखों में ब्याह दी गयी। शायद मेरी अम्मा के दादा ने मेरे दादा पर कोई जादू कर दिया था कि उन्होंने अपनी बहन, बक़ौल फूफी बादशाही, कुँजड़ों-क़साइयों में दे दी। अपने 'मरहूम' शौहर को गालियाँ देते वक़्त वे हमेशा अपने बाप को क़ब्र में चैन न मिलने की बददुआएँ दिया करतीं, जिन्होंने चग़ताई ख़ानदान की मिट्टी पलीद कर दी।

मेरी फूफी के तीन भाई थे, मेरे ताया, मेरे अब्बा मियाँ और मेरे चचा। दो उनसे बड़े थे और चचा सबसे छोटे थे। तीन भाइयों की एक लाड़ली बहन हमेशा की नख़रीली और तुनक मिज़ाज थीं। वे हमेशा तीनों पर रोब जमातीं और लाड करवातीं। बिलकुल लौंडों की तरह पलीं। शहसवारी, तीरन्दाज़ी और तलवार चलाने की भी ख़ासी मश्क़ थी। वैसे तो फैल-फालकर ढेर मालूम होती थीं, मगर पहलवानों की तरह सीना तानकर चलती थीं, सीना था भी चार औरतों जितना।

अब्बा मज़ाक़ में अम्मा को छेड़ते, "बेगम, बादशाही से कुश्ती लड़ोगी ?"

"उई तौबा मेरी !" विद्वान बाप की बेटी, मेरी अम्मा, कान पर हाथ धर कर कहतीं।

मगर अब्बा मियाँ नन्हें भाई से फ़ौरन फूफी को चुनौती भिजवाते, "फूफी, हमारी अम्मा से कुश्ती लड़ोगी ?"

"हाँ, हाँ, बुला अपनी अम्मा को ! आ जाय ख़म ठोंककर ! अरे उत्तू न बना दूँ तो मिर्ज़ा करीम बेग की औलाद नहीं ! बाप का नुत्फ़ा है तो बुला ! बुला मुल्लाज़ादी को !"

और मेरी अम्मा अपना लखनऊ का बड़े पायँचों का पाजामा समेटकर कोने में दुबक जातीं।

"फूफी बादशाही, दादा मियाँ गँवार थे न ? बड़े नाना मियाँ उन्हें आमद-नामा (फ़ारसी व्याकरण) पढ़ाया करते थे।"

बड़े नाना जान ने कभी दादा मियाँ को कुछ पढ़ाया होगा, अब्बा मियाँ

छेड़ने के लिए बात तोड़-मोड़कर कहलवाते ।

"अरे, वह इस्तिंजे का ढेला क्या मेरे बाबा को पढ़ाता ? मुजाविर (मज़ार का रखवाला) कहीं का ! हमारे टुकड़ों पर पलता था।"

अगर सलीम चिश्ती और अकबर बादशाह के रिश्ते से हिसाब लगाया जाता तो हम लोग यानी चग़ताई अकबर बादशाह के ख़ानदान से थे, जिन्होंने मेरे ननिहाल के सलीम चिश्ती को पीर और मुर्शिद कहा था।

मगर फूफी कहतीं, "ख़ाक पीर और मुर्शिद की दुम ! मुजाविर थे, मुजाविर !"

फूफी के तीन भाई थे, मगर तीनों से उनकी लड़ाई हो चुकी थी, और जब वे गुस्सा होतीं तो तीनों की धज्जियाँ बिखेर देतीं। बड़े भाई बड़े अल्लाह वाले थे। उन्हें नफ़रत से फ़क़ीर और भिखमंगा कहतीं। हमारे अब्बा सरकारी नौकरी में थे, उन्हें ग़द्दार और अंग्रेज़ों का गुलाम कहतीं; क्योंकि मुग़लशाही अंग्रेज़ों ने ख़त्म कर डाली, वरना आज 'मरहूम' पतली दाल के खाने वाले जुलाहे यानी मेरे फूफा की बजाय वह लाल क़िले में ज़ेबुन्निसा की तरह गुलाब के अर्क़ में नहाकर किसी मुल्क के शहंशाह की मलिका बनी बैठी होतीं ! तीसरे, यानी चचा दस नम्बर के बदमाशों में से थे और सिपाही डरता-डरता मेजिस्ट्रेट भाई के घर उनकी हाज़िरी लेने आया करता था। उन्होंने कई क़त्ल किये थे; डाके डाले थे और शराब तथा रंडीबाज़ी में अपनी मिसाल आप थे। फूफी उन्हें डाकू कहा करती थीं, जो उनके कारनामों को देखते हुए क़तई फुसफुसा शब्द था।

मगर जब वे अपने 'मरहूम' शौहर से गुस्सा होतीं, तो कहा करतीं, 'मुँहजले, निगोड़ी-नाठी नहीं हूँ ! तीन भाइयों की इकलौती बहन हूँ ! उनको ख़बर हो गयी तो दीन-दुनिया का न रहेगा। और कुछ नहीं, अगर छोटा सुन ले तो पल-भर में अँतड़ियाँ निकाल के हाथ में थमा दे, डाकू है, डाकू ! उससे बच गया तो मँझला मेजिस्ट्रेट तुझे जेल में सड़ा देगा, सारी उम्र चक्कियाँ पिसवायेगा। और उससे भी बच गया तो बड़ा, जो अल्लावाला है, तेरी आक़बत (परलोक) ख़ाक में मिला देगा ! देख, मुग़ल-बच्ची हूँ, तेरी

अम्मा की तरह शेख़ानी-फ़ेखानी नहीं हूँ !'

मगर मेरे फूफा अच्छी तरह जानते थे कि तीनों भाई उन्हीं पर रहम खाते हैं और वे बैठे-बैठे मुस्कराते रहते, वही मीठी-मीठी, ज़हरीली मुस्कराहट, जिसके ज़रिये मेरे ननिहाल वाले ददिहाल वालों को बरसों से जला रहे हैं।

हर ईद-बक़रीद को मेरे अब्बा मियाँ बेटों को लेकर ईदगाह से सीधे फूफी अम्मा के यहाँ कोसने और गालियाँ सुनने जाया करते ! वे फ़ौरन परदा कर लेतीं और कोठरी में से मेरी जादूगरनी माँ और डाकू मामुओं को कोसने लगतीं। नौकर को बुलाकर सेवईं भिजवातीं, मगर यह कहतीं कि पड़ोसिन ने भेजी है।

"इनमें ज़हर तो नहीं मिला है ?" अब्बा छेड़ने को कहते।

और फिर सारी ननिहाल के चिथड़े बिखेरे जाते।

सेवईं खाकर अब्बा ईदी देते, जिसे वह फ़ौरन ज़मीन पर फेंकते हुए कहतीं, "अपने सालों को दो, वही तुम्हारी रोटियों पर पले हैं !"

मगर अब्बा चुपचाप चले आते। वे जानते थे कि फूफी बादशाही उन रुपयों को घंटों आँखों से लगाये रोती रहेंगी। भतीजों को वे आड़ में बुलाकर ईदी देतीं, "हरामज़ादो ! अगर अम्मा और अब्बा को बताया तो बोटियाँ काटकर कुत्तों को खिला दूँगी !"

अब्बा और अम्मा को मालूम था कि लड़कों को कितनी ईदी मिली।

अगर किसी ईद पर किसी वजह से अब्बा मियाँ न जा पाते तो सन्देश-पर-सन्देश आने लगते, "नुसरत ख़ानम बेवा हो गयीं, चलो अच्छा हुआ ! मेरा कलेजा ठंडा हुआ !"

बुरे-बुरे सन्देश शाम तक आते ही रहते और फिर वे ख़ुद रहमान भाई के कोठे पर से गालियाँ बरसाने आ जातीं।

एक दिन ईद की सेवईं खाते-खाते गर्मी से अब्बा मियाँ का जी मिचलाने लगा और उनको उलटी हो गयी।

"लो बादशाही ख़ानम, कहा-सुना माफ़ करना, हम तो चले !"—अब्बा मियाँ ने कराह कर आवाज़ बनायी और फूफी लश्टम-पश्टम परदा फेंक, छाती

कूदती निकल आयीं और अब्बा को शरारत से हँसता देखकर उल्टे पाँव कोसती लौट गयीं।

"तुम आ गयीं बादशाही तो मौत के फ़रिश्ते भी घबराकर भाग गये, वरना हम तो आज ख़त्म हो जाते !"—अब्बा ने कहा।

न पूछिए, फूफी ने कितने वज़नी कोसने दिये और अब्बा को ख़तरे से बाहर देखकर बोलीं, "अल्लाह ने चाहा तो बिजली गिरेगी ! नाली में गिरकर दम तोड़ोगे ! कोई मैयत को कन्धा देनेवाला न बचेगा !"

अब्बा चिढ़ाने को उन्हें दो रुपये भिजवाते, "भई, हमारी ख़ानदानी डोमनिया गालियाँ दे दें तो उन्हें कुछ मिलना ही चाहिए !"

"दे अपनी अम्मा-बहिनिया को !" फूफी बौखलाहट में कह जातीं और फिर फ़ौरन अपना मुँह पीटने लगतीं। ख़ुद ही कहतीं, "ऐ बादशाही बन्दी ! तेरे मुँह को कालिख लगे ! अपनी मैयत आप पीट रही है !"

फूफी को असल में भाई से ही बैर था। बस उनके नाम पर आग लग जाती। वैसे कहीं अब्बा के बिना अम्मा नज़र आ जातीं, तो गले लगाकर प्यार करतीं। प्यार से नच्छू-नच्छू कहतीं—"बच्चे तो अच्छे हैं ?"—वे बिलकुल भूल जातीं कि वे बच्चे उसी बदज़ात भाई के हैं, जिसे वे शुरू से आख़िर तक कोसती रहेंगी। अम्मा उनकी भतीजी भी तो थीं।

भई, किस क़दर घपला था मेरे ददिहाल-ननिहाल में ! एक रिश्ते से मैं अपनी अम्मा की बहन भी लगती थी और इस तरह मेरे अब्बा मेरे दूल्हा भाई भी होते थे। मेरी ददिहाल को मेरे ननिहाल वालों ने क्या-क्या दुख न दिये ! ग़ज़ब तो तब हुआ जब मेरी फूफी की बेटी मसर्रत ख़ानम ज़फ़र मामू को दिल दे बैठीं !

हुआ यह कि मेरी अम्मा की दादी यानी अब्बा की फूफी जब मौत के बिस्तर पर लग गयीं तो दोनों तरफ़ के लोग तीमारदारी को पहुँचे। मेरे मामू भी अपनी दादी को देखने गये और मसर्रत ख़ानम भी अपनी अम्मा के साथ उनकी फूफी को देखने आयीं। बादशाही फूफी को कुछ डर-ख़ौफ़ तो था नहीं। वे जानती थीं, मेरे ननिहाल वालों की तरफ़ से उन्होंने अपनी औलाद

के दिल में इतमीनान की हद तक नफ़रत भर दी है और फिर पन्द्रह बरस की मसर्रत ख़ानम की अभी उम्र ही क्या थी। अम्मा के कूल्हे से लगकर सोती थीं। दूध-पीती ही उन्हें तो लगती थीं।

फिर जब मेरे मामू ने अपनी करंजी, शरबती आँखों से मसर्रत जहाँ के लचकदार सरापे को देखा तो वहीं-की-वहीं जमकर रह गयीं। दिन-भर बड़े-बूढ़े तीमारदारी करके थके-हारे सो जाते तो ये आज्ञाकारी बच्चे सिरहाने बैठे मरीज़ पर कम, एक-दूसरे पर ज़्यादा निगाह रखते। जब मसर्रत जहाँ बर्फ़ में तर कपड़ा बड़ी बी के माथे पर बदलने को हाथ बढ़ातीं तो ज़फ़र मामू का हाथ वहाँ पहले से मौजूद होता।

दूसरे दिन बड़ी बी ने पट से आँखें खोल दीं और काँपती हुई गाव-तकिये के सहारे उठ बैठीं। उठते ही उन्होंने सारे ख़ानदान के ज़िम्मेदार लोगों को तलब किया। जब सब जमा हो गये तो हुक्म हुआ—"क़ाज़ी को बुलवाओ!"

लोग परेशान कि बुढ़िया क़ाज़ी को क्यों बुला रही है! क्या आख़िरी वक़्त सोहाग रचायेगी?

किसको दम मारने की हिम्मत थी! क़ाज़ी आया।

"दोनों का निकाह पढ़ाओ!"

लोग चकराये, किन दोनों का? मगर इधर मसर्रत जहाँ पट से बेहोश होकर गिरीं, उधर ज़फ़र मामू बौखलाकर बाहर चले। चोर पकड़ गये। निकाह हो गया। बादशाही फूफी सन्नाटे में रह गयीं।

हालाँकि कोई ख़तरनाक बात न हुई थी, दोनों ने सिर्फ़ हाथ पकड़े थे, मगर बड़ी बी के लिए बस यही हद थी।

और फिर जो बादशाही फूफी को दौरा पड़ा है तो बस घोड़े और तलवार के बिना ही उन्होंने लोगों को काटकर ढेर लगा दिया। खड़े-खड़े बेटी-दामाद को निकाल दिया।

मजबूरन अब्बा मियाँ दुल्हा-दुल्हन को अपने घर ले आये। अम्मा तो चाँद-सी भाभी देखकर निहाल हो गयीं। बड़ी धूमधाम से दावत हुई।

बादशाही फूफी ने उस दिन से अपनी फूफी का मुँह नहीं देखा और भाई

से परदा कर लिया। मियाँ से पहले ही से अनबन थी, दुनिया से मुँह फेर लिया। और एक ज़हर था कि उनके दिल और दिमाग़ पर चढ़ता ही गया। ज़िन्दगी साँप के फन की तरह डसने लगी।

"बुढ़िया ने पोते के लिए मेरी बच्ची को फँसाने को मकर गाँठा था!" वे बराबर यही कहे जातीं, क्योंकि वाक़ई वे इसके बाद बीस साल तक और जीं। कौन जाने, ठीक ही कहती हों फूफी।

मरते दम तक बहन-भाई में मेल न हुआ। जब अब्बा मियाँ पर फ़ालिज का हमला हुआ और बिलकुल ही वक़्त आ गया तो उन्होंने फूफी बादशाही को कहला भेजा—"बादशाही ख़ानम, हमारा आख़िरी वक़्त है, दिल का अरमान पूरा करना हो तो आ जाओ!"

न जाने इस सन्देश में क्या तीर छुपे थे, जो भैया ने फेंके और बहिनिया के दिल में उतर गये। हलहलाती, छाती कूटती, सफ़ेद पहाड़ की तरह भूचाल लाती हुई बादशाही ख़ानम उस ड्योढ़ी पर उतरीं, जहाँ उन्होंने अब तक क़दम नहीं रखा था।

"लो बादशाही, तुम्हारी दुआ पूरी हो रही है।" अब्बा मियाँ तकलीफ़ में भी मुस्करा रहे थे। उनकी आँखें अब भी जवान थीं।

फूफी बादशाही बावजूद बालों के वही मुन्नी-सी बिच्छू लग रही थीं, जो बचपन में भाइयों से मचल-मचल कर बात मनवा लिया करती थीं। उनकी शेर-जैसी खुर्राट आँखें एक मेमने की मासूम आँखों की तरह सहमी हुई थीं। बड़े-बड़े आँसुओं की धाराएँ संगमरमर की चट्टान-जैसे गालों पर बह रही थीं।

"हमें कोसो, बिच्छू बी!" अब्बा ने प्यार से कहा।

मेरी माँ ने सिसकते हुए बादशाही ख़ानम से कोसने की भीख माँगी।

"या अल्लाह!...या अल्लाह!..." उन्होंने गरजना चाहा, मगर काँप-कर रह गयीं। "या अल्लाह!...मेरी उम्र मेरे भैया को दे दे!...या मौला! ...अपने रसूल का सदक़ा!" वे उस बच्चे की तरह झुँझलाकर रो पड़ीं, जिसे सबक़ न याद हो!

सबके मुँह फ़क़ हो गये! अम्मा के पैरों का दम निकल गया, या ख़ुदा!

आज बिच्छू फूफी के मुँह से भाई के लिए एक कोसना न निकला !

सिर्फ़ अब्बा मियाँ मुस्करा रहे थे, जैसे उनके कोसने सुनकर मुस्करा दिया करते थे।

सच है, बहन के कोसने भाई को नहीं लगते। वे माँ के दूध में डूबे हुए होते हैं !

ख़्वाजा अहमद अब्बास

अवध की शाम

उसने कहा, "अब्बास साहब, विश्वास कीजिए, मैंने ढाई बरस से चक्खी भी नहीं है। पर ख़ैर, आज आपकी ख़ातिर..." और बैरे को आवाज़ देकर बुलाया।

"एक बड़ा पेग ले आओ।...हाँ, हाँ, वही अँगरेज़ी ह्विस्की का।...और क्या देसी का?" और मुझ से बोला, "और आप क्या पियेंगे?"

"लेमन स्क्वाश।"

"लाहौल विलाक़ूवत! आप तो बिलकुल ज़ाहिदे-खुश्क निकले! ख़ैर, आपकी मरज़ी।" और फिर बैरे को हुक्म देने के बाद, सिगरेट सुलगाते हुए कहा, "आप नहीं पीते, अच्छा ही करते हैं। एक बार आदत पड़ जाय तो 'छुटती नहीं है मुँह से ये काफ़िर लगी हुई।' मेरा ही जिगर था कि दस बरस पीने के बाद एकदम छोड़ दी। पूरे ढाई साल हो गये।"

बैरे ने गिलास सामने लाकर रक्खा, और सोडा डालने लगा।

"बस-बस। सोडा नहीं चाहिए। जाओ तुम।" और फिर घूँट लेकर

बोला, "हाँ, तो मैं क्या कह रहा था ? ओह खूब याद आया। ढाई बरस बीत गये, और एक घूँट भी नहीं चक्खा, नॉट इव्ह ए सिंगल ब्लडी ड्राप! माफ़ कीजिएगा, बोल-चाल में अँगरेज़ी मुहावरे इस्तेमाल करने की बुरी आदत पड़ गयी है। बात यह है कि मैं ज़रा इंगलिश स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ।"

उसके एक हाथ में ह्विस्की का गिलास था, दूसरे में ब्लैक ऐण्ड ह्वाइट का सिगरेट। और मैंने देखा कि दोनों हाथ नशे के कारण हल्के-हल्के काँप रहे हैं, और काँपता हुआ एक हाथ मुँह से गिलास हटाता है तो दूसरा हाथ सिगरेट को मुँह की ओर ले जाता है। और ऐसा लग रहा था, जैसे तरल आग गले में उतरती-उतरती धुआँ बनती जा रही हो। वह सिगरेट के धुएँ से इस प्रकार खेल रहा था, जैसे कोई सरकस का मदारी लोहे के छल्लों या रस्सी के गोल घेरों से खेलता है। कभी नाक से धुएँ की पिचकारी छूटती, कभी मुँह को गोल करके धुएँ के छल्ले छोड़े जाते। और जब ये छल्ले एक-दूसरे से मिलकर एक लम्बी धुएँ की ज़ंजीर बन जाते तो उसे देखकर वह अपने कमाल पर आप-ही-आप गर्व करता हुआ मुस्कराता।

वह लखनऊ के एक बड़े ताल्लुक़ेदार का मँझला बेटा था और उससे मेरी मुलाक़ात उसी दिन हुई थी। मिलते ही उसने कहा था, "आप...आप ही हैं अब्बास साहब, जिन्होंने वे किताबें लिखी हैं। मुझे तो बड़ी मुद्दत से आपकी तलाश थी। आज मैं आपको नहीं छोड़ूँगा। मुझे आपसे बहुत-सी बातें करनी हैं।" और फिर मुझे कमरे के दूसरे कोने में ले जाकर बोला, "भाई साहब सुनेंगे तो मेरा मज़ाक़ उड़ायेंगे। दरअसल मुझे चन्द साहित्यिक मामलों में आपकी सलाह दरकार है और आपके सिवा मुझे कोई दूसरा नज़र नहीं आता, जो मुझे सही रास्ते पर लगा सके। मेरे आगामी जीवन का दारमदार आप ही की सलाह पर है।"

उसके बहनोई का भाई मेरा दोस्त है, इसलिए इनकार करना कठिन हो गया और मैंने उसकी दावत स्वीकार कर ली कि शाम एक साथ बितायेंगे। मैंने सोचा, 'आज इस नौजवान ताल्लुक़ेदार की संगत में यह भी देख लिया जाय कि अवध की शाम कितनी रंगीन है।'

और अवध की शाम शुरू हुई 'चीना बार' से।

हज़रतगंज में रोशनियाँ जगमगा रही थीं। रेशमी साड़ियाँ झिलमिला रही थीं। सुन्दर मुखड़ों की मानो नुमायश हो रही थी। काफी हाउस में विद्यार्थियों, कवियों, पत्रकारों का जमघट था। एक सिनेमा के सामने खेल-कूद के शौक़ीन औलम्पिक का फ़िल्म देखने के लिए बेचैन थे। एक दूसरे सिनेमा मे एक रूसी फ़िल्म 'ट्रायम्फ आफ यूथ' दिखाया जा रहा था। युगल जोड़ियाँ नुक्ताचीन निगाहों से बचकर, मेफेयर रेस्तराँ में आनन्द के कुछ क्षण बिताने जा रही थीं। अमीनाबाद में कंधे से कंधा छिलता था। दीवाली की रंग-बिरंगी मिठाइयों से हलवाइयों की दूकानें सजी हुई थी। बच्चे खिलौनो की दुकानो पर भीड़ लगाये थे। लेकिन मेरे नये दोस्त की कृपा से मेरी अवध की शाम की शुरूआत एक तंग और अँधेरे ह्विस्की और बियर की गंध मे बसे हुए बार से हुई।

"अब्बास साहब, एक बात बताइए।"

"कहिए !"

"मेरे चेहरे को ग़ौर से देखकर अन्दाज़ा लगाइए कि मेरी उम्र कितनी है।"

मैंने ध्यान से देखा। वह अच्छा ख़ासा सुन्दर जवान था। गोरा रंग, फ़िल्म-स्टारो-जैसी पतली मूँछें, घुँघराले बाल, अच्छा नख-शिख, लेकिन आँखों के गिर्द गहरे काले हलक़े, दाहिने हाथ की दो उँगलियाँ सिगरेट के धुएँ से सियाही लिये हुए पीली। मैंने ऐसे ही अललटप जवाब दिया, "कोई अट्ठाईस बरस।"

"देखा, आप भी धोखा खा गये न! मेरी उम्र सिर्फ चौबीस साल है। पिछले साल ही तो बी० ए० का इम्तहान दिया है। हमारे इम्तहान का भी अजब क़िस्सा है जनाब। इकनामिक्स में हम फ़ेल, पर अँगरेज़ी में फ़र्स्ट नम्बर। जिस प्रोफेसर के पास अँगरेज़ी का पर्चा था, वह खुद अँगरेज़। मेरी कापी देखकर उस अँगरेज़ ने वाइस चासलर से कहा, 'मै इस लड़के का

लिखा हुआ मज़मून विलायत की किसी मैगज़ीन में छपने के लिए भेजना चाहता हूँ, जिसमें कि वहाँ के लड़के देखें कि हिन्दुस्तानी विद्यार्थी कितनी अच्छी अँगरेज़ी लिख सकते हैं।' अब आप सोचेंगे कि इस नाचीज़ को इतनी अच्छी अँगरेज़ी लिखनी कहाँ से आ गयी। तो बात यह है, अब्बास साहब, कि मैं अँगरेज़ी स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ न।"

पहला पेग ख़त्म हो चुका था। बैरे ने पूछना अनावश्यक समझा, दूसरा पेग गिलास में ढाला और पास ही सोडे की बोतल रखकर चला गया।

दूसरे पेग का पहला घूँट चढ़ाते हुए उसने कहा, "देखा आपने, पूछा भी नहीं और पेग डाल गया। हालाँकि मैं सिर्फ़ एक ही पेग पीने के इरादे से आया था और वह भी आपकी ख़ातिर। दरअसल मैंने तो पीना छोड़ ही दिया है। बुरी बला है। अच्छे-ख़ासे आदमी को पागल बना देती है। डोरीन कहा करती थी, 'नवाब डार्लिङ्ग...' स्कूल में सब मुझे नवाब, नवाब ही कहते थे...हाँ, तो डोरीन कहा करती, 'नवाब डार्लिङ्ग, तुम पहला पेग पीते हो तो बड़े सुन्दर दिखायी पड़ते हो। जब दूसरा पेग पी लेते हो तो बड़े ख़ूँख़्वार नज़र आते हो। और जब तीसरा पेग पी लेते हो तो बिलकुल उल्लू मालूम होते हो। इसलिए बस तुम एक ही पेग पिया करो।' अजीब लड़की थी वह भी। मुझे कभी 'फ़ैयरी प्रिन्स'—आप मतलब समझे न—परियों का राजकुमार भी कहा करती थी। और मैं उसे कहता, 'माई स्वीट सिंड्रिला।' वह ज़रा ग़रीब लड़की थी, एक ऐंग्लो-इंडियन इंजन ड्राइवर की बेटी। नैनीताल में हमारे स्कूल के पास ही लड़कियों का कान्वेएट था। वहाँ वह पढ़ती थी। मैं उस वक़्त कोई चौदह या पन्द्रह बरस का था और वह शायद सोलह बरस की। एक रात को डान्स में मुलाक़ात हो गयी। न जाने क्यों, पहली मुलाक़ात में ही वह मेरी तरफ़ खिंची चली आयी। न जाने मुझमें क्या आकर्षण-शक्ति थी? अब्बास साहब, ईमान से बताइएगा, मुझमें क्या ऐसा कोई आकर्षण है कि लड़कियाँ हमेशा खिंची ही चली आयें?"

मैंने कहा, "शायद आपके रुपये में कोई आकर्षण हो।"

"आप सच कहते हैं। ये ऐंग्लो-इंडियन लड़कियाँ होती ही हैं पैसे की लोभी। लेकिन आप विश्वास कीजिए, डोरीन ऐसी नहीं थी। उसे मुझसे सच्ची मुहब्बत थी।"

"और आपको?"

"मैं तो बच्चा था बिलकुल। प्रेम-व्रेम जानता ही न था। ख़ैर, अब उस बेचारी का क्या ज़िक्र? तीन साल हुए, उसकी शादी एक पुलीस सार्जेंण्ट से हो गयी। पर अब भी हर साल क्रिसमस-कार्ड ज़रूर भेजती है। और जानते हैं, उस पर क्या लिखा होता है? लिखा होता है—'टू माई फ़ेयरी प्रिन्स'।"

दूसरा पेग कभी का ख़त्म हो चुका था। उसने एक नज़र ख़ाली गिलास पर डाली और फिर चिल्लाया—"ब्वाय! ब्वाय"!

जब बैरा भागा हुआ आया तो उसे डाँटा, "अन्धे हो? देखते नहीं, गिलास कब से ख़ाली पड़ा हुआ है?"

बैरा भाग कर ह्विस्की की बोतल लाया। एक पेग उँडेला। सोडा डालने लगा तो उसने 'बस, बस' कह कर रोक दिया।

"अब्बास साहब, अच्छा करते हैं आप कि नहीं पीते। मगर कभी पीने-पिलाने का शौक़ करें तो एक बात याद रखिएगा कि अगर आप चाहते हैं कि सुरूर हो पर नशा न चढ़े और अगले दिन 'हैंग ओवर' न हो, तो ह्विस्की में ज़्यादा सोडा कभी न डालिएगा। नशा दरअसल ह्विस्की से नहीं, इस कमबख़्त सोडे से होता है। यह नुस्ख़ा, ख़ुदा बख़्शे, हमारे चचा जान मरहूम ने बताया था। पहली बार शराब भी उन्होंने ही पिलायी। मैं उस वक़्त बारह बरस का था। शराब का नाम सुना था, पर कभी चक्खी न थी। चचा जान क़िबला यानी नवाब साहब सकरामपुर—आपने नाम ज़रूर सुना होगा—हाँ, तो उनके यहाँ जलसा था। दर्जन तवायफ़ें बुलवायी गयी थीं। सारे महल में धमाचौकड़ी मची हुई थी। मुन्नी तवायफ़ उन दिनों बड़ी मशहूर थी। वह नवाब साहब के सामने नाच रही थी और दो बाँदियाँ बारी-बारी से उन्हें जाम भर-भर कर दे रही थीं। हम लड़के छिपकर तमाशा देख रहे थे। लेकिन वह कमबख़्त मुन्नी अपनी भड़कीली पेशवाज़ में ऐसी भली लगी

कि मैं बेख़याली में दरवाज़े में से अन्दर आ गया ताकि उसे नाचते हुए अच्छी तरह देख सकूँ। शामत जो आयी तो नवाब साहब की नज़र मुझ पर पड़ गयी। वहीं से आवाज़ दी, 'मुन्नन बेटा! यहाँ आओ।' घर में सब मुझे मुन्नन ही कहते हैं। हाँ, तो उन्होंने आवाज़ दी तो मुझे जाना ही पड़ा। दिल-ही-दिल में डरता-काँपता उनके पास पहुँचा तो जाम मेरी तरफ़ बढ़ा कर बोले—'लो, पियो!' मेरी झिझक देखकर वे हँस पड़े। मुन्नी भी गाना बन्द करके हँसने लगी। बोली, 'नवाब साहब, इजाज़त हो तो छोटे मियाँ को मैं अपने हाथ से पिलाऊँ?' नवाब साहब ने इशारा किया तो मुन्नी ने अपने हाथों से एक पेग उँडेला। उसमें सोडा उँडेल ही रही थी कि नवाब साहब ने रोक दिया, 'बस-बस, ज़्यादा सोडे से नशा चढ़ जाता है। ले ले, मुन्नन! बहादुर है तू। अल्लाह का नाम लेकर पी जा। और यह बात गिरह में बाँध ले कि जितनी ह्विस्की हो, सोडा उससे ज़्यादा न हो तो कभी नशा न होगा।' और मुन्नी ने मेरी तरफ़ जाम बढ़ा कर बड़े प्यार से कहा, 'ले, बेटा, पहला जाम मुबारक हो!' मैं चारों तरफ़ से घिरा हुआ था। अब तो कोई चारा ही नहीं था। आँख बन्द करके गट-गट पी गया।"

"फिर क्या हुआ?" मैंने पूछा।

कुछ क्षणों के लिए वह चुप रहा। कोई जवाब न दिया। पर उसके मुँह से सिगरेट के धुएँ से छल्ले निकलते रहे और एक-दूसरे से मिलकर एक ज़ंजीर-सी बनाते रहे और वह चुपचाप बैठा ऐसे घूरता रहा मानो वह उस धुएँ की ज़ंजीर में बँधा हुआ हो और उससे छुटकारा पाना उसके लिए असम्भव हो।

सिगरेट को ऐश-ट्रे में डाल कर, जहाँ पहले ही अनगिनत सिगरेटों की लाशें पड़ी पानी में गल रही थीं, वह दूसरा सिगरेट जलाना भूल गया और उसकी नज़र गिलास की तरफ़ भी न गयी, जो ख़ाली रक्खा हुआ चौथे पेग की राह देख रहा था। धुएँ की ज़ंजीर टूटकर एक धुँधला-सा ग़ुबार कमरे में छा गया और उसकी आवाज़ जैसे उस धुंध की तह में से आयी, "अब्बास साहब, यह सब सुनकर आप ज़रूर मुझसे, मेरे ख़ानदान से, बल्कि तमाम

ताल्लुक़ेदारी निज़ाम से नफ़रत कर रहे होंगे।"

मैं कहना चाहता था कि रोगियों से कोई नफ़रत नहीं किया करता, चाहे वे कैसे भी घृणित रोग में ग्रस्त हों, विशेषकर ऐसे रोगियों से, जो मरने के क़रीब हों। पर वह बोलता गया।

"और सचमुच हम हैं भी नफ़रत के क़ाबिल। आख़िर हमें क्या हक़ है ज़िन्दा रहने का? हम समाज की जोंकें हैं, जोंकें। हम ख़ून चूसते हैं। मैंने ख़ुद अपनी रियासत में अपनी आँखों से देखा है कि ताल्लुक़ेदार कितने ज़ुल्म करते हैं किसानों पर। मैं पूछता हूँ, हमारी ऐयाशियों के लिए कहाँ से रुपया आता है? हमारे संगमरमर के महलों के लिए, हमारे बढ़िया कपड़ों के लिए, नाच-रंग, तवायफ़ों, शराब..."

प्रश्न-चिह्न उसके होंठों पर बना-का-बना रह गया, जैसे ही उस की नज़र गिलास पर पड़ी, जो ख़ाली था और कब से चौथे पेग की राह देख रहा था।

"ब्याय!" सारे बार में उसकी ऊँची आवाज़ गूँज गयी।

एक नया सिगरेट जलाकर धुएँ की ज़ंजीर को अपने गिर्द फैलाते हुए वह बोला, "अब्बास साहब, इस नापाक वातावरण से आप ही मुझे निकाल सकते हैं, सिर्फ़ आप। मैं घर-बार, ताल्लुक़ेदारी, ज़मींदारी, सब-कुछ छोड़कर बम्बई आना चाहता हूँ और जर्नलिज़्म से रोज़ी कमाना चाहता हूँ। न जाने क्यों, मैं समझता हूँ कि मुझमें एक अच्छा जर्नलिस्ट बनने के 'जर्म्स' मौजूद हैं। आप इसे शायद शेख़ी या अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना कहें, लेकिन मेरा ख़याल है कि कम-से-कम यू॰ पी॰ में बहुत थोड़े लोग हैं, जो मुझसे अच्छी अँगरेज़ी लिख सकते हैं। 'पानियर' तो आप ज़रूर पढ़ते होंगे?"

मैंने कहा, "पानियर बम्बई में नहीं पहुँचता।"

उसने चौथे पेग का दूसरा घूँट पीते हुए कहा, "तभी तो आप मेरा नाम न सुन सके, नहीं तो सन् पैंतालीस-छियालीस में कोई दिन नहीं छूटता था, जब मेरा आर्टीकिल 'पानियर' में न छपता हो। एडीटर के नाम ख़त होते हैं न, बस उसी कालम में रोज़ मेरा आर्टिकिल धरा रहता था। केली साहब—आप तो जानते होंगे—'पानियर' के एडीटर थे पार साल तक बड़ा शरीफ़

अँगरेज़ था, साहब।...हाँ, तो केली साहब बड़ी तारीफ़ करते थे मेरी लिखाई की। कहते थे, 'बड़ा मँजा हुआ स्टाइल है तुम्हारा।' बात यह है, अब्बास साहब कि अँगरेज़ी में ज़रा अच्छी लिख लेता हूँ। इंगलिश स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ न ?"

मैंने पूछा, "आम तौर से किन-किन विषयों पर ख़त...मेरा मतलब है, मज़मून लिखते थे आप ?"

"एक हो तो बताऊँ। चीन, जापान, पेलेस्टाइन, लीग आफ़ नेशंज़, ज़मींदारी-बिल, शरीअत-बिल, हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी, ऐटम बम—कोई भी सबजेक्ट दे दीजिए, चार-पाँच घंटे में मज़मून तैयार ले लीजिए। मैं आपको अपने आर्टिकिल्स की फ़ाइल दिखाऊँगा। मुझे यक़ीन है कि आप ज़रूर पसन्द करेंगे।"

मैंने कहा, "मैं बड़े शौक से आपके मज़मून पढ़ूँगा।"

"मगर, अब्बास साहब, एक बात है। उस ज़माने में मैं बड़ा पक्का मुस्लिम लीगी था। इसलिए उन आर्टिकिल्स के सियासी नुक्त-ए-नज़र को आप पसन्द न करेंगे। लेकिन ज़बान और स्टाइल की दाद ज़रूर देंगे। मैंने ख़ुद लीग-वीग को छोड़-छाड़ दिया है। पाकिस्तान भी कुछ हफ़्तों के लिए गया था। भाई साहब कोई बिज़नेस शुरू करना चाहते थे। मगर हमें कुछ जँचा नहीं, सो वापस चला आया। पर सच पूछिए तो मेरे ख़यालात में सबसे बड़ा इनक़लाब महात्मा गांधी की क़ुरबानी से आया है। जिस वक़्त उनके क़त्ल की ख़बर आयी, मैं बिलकुल सन्न हो गया। ऐसा मालूम हुआ, जैसे मेरे साम्प्रदायिक विचारों का महल अड़ाड़ा-धम करके गिर पड़ा हो। क्या शानदार मौत थी उनकी, उनकी ज़िन्दगी ही की तरह ! अफ़सोस कि ज़िन्दगी में मैंने उनकी क़द्र नहीं की। उस दिन से गांधी जी की लिखी हुई किताबें पढ़ना शुरू कर दीं। जानते हैं, वे किताबें पढ़कर मैं किस नतीजे पर पहुँचा ?"

इस बीच न जाने किस समय बैरा पाँचवाँ पेग गिलास में डाल गया था। ह्विस्की में चन्द बूँदें सोडे की डालने को एक क्षण के लिए वह

रुका। एक सिगरेट से दूसरा सिगरेट सुलगाया और अपना बयान जारी रक्खा।

"गांधी जी की तहरीरें पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अँधेरे दिमाग़ में एकदम रोशनी हो गयी हो। मैंने सोचा कि इस दुनिया में बहुत-सी मनहूस ताक़तें हैं, साम्राज्य है, पूँजीवाद है, ज़ुल्म और हिंसा है, जंग और ऐटम बम है, मगर एक ऐसी ताक़त भी है, जो इन सब पर भारी है। बताइए वह कौन-सी ताक़त है?"

मैंने कहा, "शायद आपका मतलब जनता के एके या इत्तहाद से है।"

"नहीं, नहीं, जिस अटल ताक़त की तरफ़ मैं इशारा कर रहा हूँ, वह मुहब्बत की ताक़त है। गांधी जी ने मरकर साबित कर दिया कि सिर्फ़ मुहब्बत ही नफ़रत और हिंसा, साम्राज्य और फ़िरक़ापरस्ती की ताक़तों को जीत सकती है। उस दिन से अगर मैं किसी 'इज़्म' का क़ायल हूँ तो वह 'मुहब्बतइज़्म' है!" और फिर एकाएक मेरी तरफ़ झुककर, "अब्बास साहब एक बात बताइए।"

"कहिए?"

"आपने कभी मुहब्बत की है?"

मैंने स्वीकार किया कि मुझसे यह अपराध हो चुका है।

उसने छठे पेग में बराबर की मात्रा में सोडा मिलाते हुए कहा, "छोड़िए साहब। आप जैसे ज़ाहिदे-ख़ुश्क ने क्या मुहब्बत की होगी? मुहब्बत हमने की है।"

मैंने कहा, "इसमें क्या शक है।"

"पहले तो साहब, आप हमारी पहली मुहब्बत की कहानी सुनिए। वह डोरीन वाली नहीं। वह तो यों ही बच्चों का खेल था। यह ज़ुबैदा वाली मुहब्बत तो कुछ और ही ख़ौफ़नाक चीज़ थी। साहब, वह मामला यों हुआ कि मैं जाड़े के मौसम में चन्द हफ़्ते के लिए नयी दिल्ली में ठहरा हुआ था, भाई साहब के एक दोस्त के यहाँ। उनकी एक बड़ी क़ालीनों की दुकान थी। हमारे यहाँ क़ालीन उन्हीं के यहाँ से आते थे। इसी तरह दोस्ती भी हो गयी थी। उनकी दुकान कनाट प्लेस में थी—मंज़ूर ऐण्ड कम्पनी। आपने बोर्ड

देखा होगा। अब तो ख़ैर, पाकिस्तान चले गये हैं। यह सन् चौवालीस की बात है। दुकान के ऊपर ही उनका फ़्लैट था, जिसमें एक कमरा मुझे दिया गया था। चूँकि ऊपर उनकी वाइफ़ और बेटी रहा करती थीं, इसलिए मैं ज़्यादा वक़्त नीचे दुकान में ही गुज़ारा करता था। एक दिन मंज़ूर साहब कहीं बाहर गये हुए थे। मैं अकेला ही दुकान पर बैठा था। क्या देखता हूँ कि ऊपर से मेहतरानी चली आ रही है। सीधे मेरे पास आकर कहने लगी, 'मियाँ आपसे कुछ कहना है,' पास दो-चार आदमी और भी बैठे थे। वे हँसने लगे। मैं भी खिसिया गया। आपही सोचिए। आप मेरी जगह होते तो क्या करते? ख़ैर, मैं वहाँ से हटकर उसे अलग ले गया तो वह कहने लगी, 'मियाँ, छोटी साहबज़ादी पर तरस खाइए नहीं तो वे जान दे देंगी।' मैंने कहा, 'मैंने क्या ज़ुल्म किया है? मैंने तो उनकी शक्ल भी नहीं देखी।' वह बोली, 'यह उनसे पूछिएगा। मेहरबानी करके ऊपर अपने कमरे में तशरीफ़ ले चलिए। उनकी माँ इस वक़्त बाहर हैं।' मरता क्या न करता? ऊपर अपने कमरे में पहुँचा तो वह मौजूद। शायद सोलह-सत्रह बरस की होगी। रंगत जैसे मैदा और गुलाब, नरगिसी आँखें। देखते ही क़दमों में गिर पड़ी। बोली, 'शादी न कीजिए, लौंडी बनाकर रख लीजिए, मगर अपने से जुदा न कीजिए।' यह सुनकर मैं अचम्भे में पड़ गया। सोचा उसके बाप ने देख लिया तो ख़ैर नहीं। वह रोये जा रही थी। बड़ी मुश्किल से समझा-बुझा कर उसे चुप कराया। उस दिन से साहब, जब मौक़ा मिलता, वह मेरे कमरे में आ जाती। एक दिन कहने लगी, 'मुझे भगा कर ले चलो।' मैंने कहा, 'मुझमें तो हिम्मत नहीं है। आप ही मुझे भगा ले चलें, तो काम बने।'... अब्बास साहब, अब आप बताइए, मेरी सूरत में आख़िर ऐसा क्या जादू है कि वह इस तरह लट्टू हो गयी?"

सवाल का जवाब देने की ज़रूरत न थी। सातवाँ पेग सामने मौजूद था। उसने एक घूँट पीकर बात जारी रक्खी।

"मगर क़सम ले लीजिए, जो मैंने उसे बुरी निगाह से देखा भी हो, हालाँकि वह थी बड़ी ख़ूबसूरत। ज़ुबैदा नाम था, पर उसे ज़ैबो, ज़ैबो कहते थे। बात

यह है कि मैं उसके बाप से डरता था। एक तो पंजाबी, दूसरे बड़े भाई का दोस्त और तीसरे यह कि बड़ा चार-सौ-बीस मशहूर था। कोई दस दिन के बाद मेरे कमरे में आयी तो मुझे क़मीज़ उठाकर दिखायी कि कमर पर नीले निशान और घाव पड़े हुए हैं, जहाँ-जहाँ उसके बाप ने कोड़ों से मारा था। अब आप ही बताइए, मैं क्या करता?"

"उससे शादी।"

"तौबा कीजिए साहब! उसके बाप की सूरत से मैं डरता था। जब मैंने देखा कि उसने अपनी बेटी की चमड़ी उधेड़ दी है तो मैंने सोचा कि मेरे पीछे पड़ गया तो जाने क्या हाल बनायेगा। सो मैं तो उसी रात को सामान वहीं छोड़ कर, रेल में सवार होकर लखनऊ आ गया। वह दिन और आज का दिन, दिल्ली का रुख़ नहीं किया। अब्बास साहब, सच कहिए, इस घटना को अफ़साना बनाकर लिख दूँ तो कैसा रहे! मेरे ख़याल में हिन्दुस्तान में आज तक इतनी ज़ोरदार कहानी न लिखी गयी होगी और यही एक वाक़या थोड़ा ही है। अपनी तो सारी ज़िन्दगी ही एक कहानी रही है। आपको सुनाने बैठूँ, तो सारी रात ख़त्म हो जाय। मगर अब दिल खट्टा हो गया है। मुहब्बत भी करके देख ली, और ऐयाशी भी कुछ कम नहीं की। आपसे झूठ क्यों बोलूँ, जो कुछ ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार करते हैं, सभी कुछ किया है। मगर ढाई साल हुए, दिल कुछ इस तरह टूटा कि दुनिया से बेज़ार हो गया। उस दिन से शराब तक छोड़ दी। बस आज ही आपकी ख़ातिर दो-एक पेग पी लिये हैं।"

उसके सामने आठवाँ पेग रखा था। उसने गिलास उठाया, उसमें सोडा मिलाया, चखा और फिर रख दिया। एक नया सिगरेट जलाया। धुएँ की ज़ंजीर फिर उसके गिर्द फैल गयी। कुछ क्षणों के मौन के बाद उसने फिर बोलना शुरू किया और किसी फ़िल्मी सम्वाद को दोहराते हुए कहा, "मैं समझता हूँ कि दिल पर चोट लगने के बाद इन्सान इन्सान बनता है। इसके बग़ैर राइटर तो बन ही नहीं सकता।...जब शकुन्तला से मेरी मुहब्बत का रिश्ता टूटा है, पूछिए मत कि मेरे दिल पर क्या गुज़री है। पर उस दिन से

हाल यह हो गया है कि आज ग़ज़ल दिमाग़ में आ रही है तो कल कहानी और परसों मज़मून।...दरअसल सच्ची मुहब्बत मैंने ज़िन्दगी में सिर्फ़ एक बार शकुन्तला से ही की है। आपने राजकुमारी शकुन्तला ऑफ़ देवनगर को तो ज़रूर देखा होगा—ताज वग़ैरह में?"

मैंने उसे बताया कि मुझे ताज वग़ैरह में जाने का मौक़ा कम ही मिलता है।

"तो तस्वीर तो ज़रूर देखी होगी। रेस कोर्स, गवर्नमेण्ट हाउस की गार्डन पार्टी, हर जगह ही तो वह मौजूद रहती है। और 'ऑन लुकर' वग़ैरा में उसकी तस्वीरें बराबर निकलती रहती हैं। अपनी मुलाक़ात भी उससे अजीब तरह हुई। उस सीज़न में हम सब भाई-बहन मसूरी में एक कोठी लेकर ठहरे हुए थे। मसूरी की ज़िन्दगी तो आप जानते ही हैं। दिन भर ताश खेलते, शाम को केबरे, रात को डिनर और डांस। आज यहाँ दावत है, तो कल वहाँ। बालरूम डांस में ज़रा अच्छा कर लेता हूँ। बचपन से मश्क़ की है। इंगलिश स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ न।" बैरे को देखकर, ज़रा रुक गया।

"अच्छा डालो," उसने कहा, "तीसरा पेग भी पी लूँ।" यद्यपि बैरा उसके गिलास में नवाँ पेग डाल रहा था।

"हाँ, तो अब्बास साहब, राजकुमारी शकुन्तला उन दिनों विलायत से पढ़ कर नयी-नयी आयी थी। उसके नाच की बड़ी धूम थी। एक दिन मुझे डांस करते देख लिया। बस सहेलियों से कहने लगी—'सारे हिन्दुस्तान में कोई डांस करना जानता है तो बस यह लड़का। यह कौन है? मुझसे मिलाओ ज़रा।' किसी दोस्त ने हमारी मुलाक़ात करा दी। बस साहब, उस दिन से तो हमारा जोड़ ऐसा बना कि हर डांस में इकट्ठे होते। धीरे-धीरे मुहब्बत भी हो गयी। शकुन्तला थी भी मुहब्बत के क़ाबिल। एक तो ख़ूबसूरत, फिर विलायत की पढ़ी हुई। अँगरेज़ी शायरी का तो बड़ा शौक़ था उसे। लिट्रेचर लिखती थी, लिट्रेचर। आप पढ़ेंगे तो कहेंगे कि इनको तो छपवाना चाहिए। मैं कभी नाविल लिखूँगा तो उन ख़तों को उसमें ज़रूर इस्तेमाल करूँगा। आप के ख़याल में नाविल कितने दिनों में लिखा जा सकता है? मेरा दावा

है कि मैं दो महीनों में लिख सकता हूँ। प्लाट तो आप जानते ही हैं, बना-बनाया तैयार है। और आपकी दुआ से क़लम में ज़ोर और रवानी भी है। बस, आपकी थोड़ी-सी सलाह की ज़रूरत है।"

"आप कुछ नाविलिस्टों के अच्छे नाविलों को पढ़ लें, तो बहुत अच्छा होगा।" मैंने सलाह दी।

"वह सब तो मेरे पढ़े हुए हैं। मोपासाँ को तो चाट गया हूँ। और सच यह है कि उस फ्रांसीसी लेखक ने औरत के कैरेक्टर को जिस तरह पेश किया है, वह उसी का हिस्सा था। रह गये हिन्दुस्तानी लिखने वाले, तो साफ़ बात यह है कि मैं इन में से किसी का क़ायल नहीं हूँ। और आपके कृष्णचन्द्र वग़ैरह भी बस योंही हैं। हाँ, आपका मैं काफ़ी क़ायल हूँ। मगर आपके यहाँ गहरे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बड़ी कमी है। और वह मैं पूरी कर सकता हूँ। अगर मेरे तजरबे को आपके क़लम की रवानी मिल जाय तो कोई हमारे मुक़ाबले में नहीं आ सकता। मैं आपको कहानियों के लिए मसाला देता रहूँ और आप कहानियाँ लिखते रहें।"

मैंने यह कहना उचित न समझा कि मसाला तो आप इस वक्त भी काफ़ी से ज़्यादा जुटा रहे हैं।

"अब्बास साहब, सच बात यह है कि दुनिया सच्ची मुहब्बत को बर्दाश्त नहीं कर सकती। शकुन्तला को मुझसे कितनी मुहब्बत थी, उसका अन्दाज़ा इससे लगा लीजिए कि वह मुझसे शादी करने को तैयार थी। और तो और, उसने मुझे अपने बाप यानी राजा साहब का ए० डी० सी० बनवा दिया। पर दुनिया को कब यह गवारा था। चुग़लियाँ, शिकायतें होने लगीं। मेरी कुछ तस्वीरें थीं। एक यहीं लखनऊ की बड़ी हसीन तवायफ़ है, उसके साथ। क्या नाम है उसका ? बड़ा अच्छा-सा नाम है।...ओह, याद ही नहीं आता। हाँ, तो एक ज़माने में हमारा आना-जाना था उसके यहाँ। मुहब्बत-वुहब्बत तो ख़ैर क्या हो सकती है रंडियों के साथ, लेकिन हाँ, वह पसन्द थी हमें। मज़ाक़-मज़ाक़ में उसके साथ चन्द तस्वीरें खिंचवायी थीं। दुश्मनों ने वह तस्वीरें शकुन्तला के पास पहुँचा दीं और न जाने क्या-क्या कान भरे। नतीजा

यह हुआ कि राजा साहब ने रातों-रात उसे मसूरी से पेरिस भिजवा दिया। और मैं लाख हाथ-पाँव मारता रहा, लेकिन हमारे अब्बा ने हमें पेरिस न जाने दिया।...बड़ी-बड़ी चोटें खायी हैं, साहब, मुहब्बत के इस मैदान में!"

बार के बन्द होने का समय हो गया था। बैरा बिल ले आया।

वह बिगड़ गया, "तुम्हारी यह मजाल कि हमें बार से निकालते हो। जानते हो, मैं कौन हूँ?"

इस तू-तू मैं-मैं में मैनेजर आ गया। उसने कहा, "मुझे सरकारी आर्डर है बारह बजे बार बन्द करने का, नहीं तो मुझ पर जुर्माना होगा। अगर नहीं जायँगे तो मुझे पुलिस को बुलाना पड़ेगा।"

पुलिस का नाम सुनकर मेरा दोस्त ठंडा पड़ गया। "अच्छा-अच्छा, जाते हैं," यह कहकर उसने दसवें पेग का अन्तिम घूँट चढ़ाया, बिल अदा किया और काँपती हुई टाँगों से चल खड़ा हुआ।

"माफ़ कीजिएगा, अब्बास साहब! मगर दुनिया बदल रही है। आज हम ताल्लुक़ेदारों की यह नौबत आ गयी है कि पुलिस का सिपाही डाँट सकता है। नहीं तो हमारे दादा के वक्त में...मगर ख़ैर, वह बादशाह ही रहे हों, हमें क्या? और सच यह है, अब्बास साहब कि ताल्लुक़ेदारी, ज़मींदारी ख़त्म हो रही है तो अच्छा ही हो रहा है। आख़िर क्यों हमें खून चूसने के लिए छोड़ दिया जाय! दुनिया में यही होता आया है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है। हमने रैयत का ख़ून चूसा, काँग्रेस हमें ख़त्म कर रही है और कल काँग्रेस को कम्युनिस्ट ख़त्म कर देंगे। चीन में आप जानते ही हैं कि क्या हो रहा है। बस ये काँग्रेस वाले ज़्यादा-से-ज़्यादा पाँच बरस के मेहमान हैं। मगर [illegible] हक़ में एक बात ज़रूर कहूँगा, मुआवज़ा बुरा नहीं, अच्छा दे रहे हैं। बेकार ज़मीन के बदले नकद रुपया! मैंने तो सोच लिया है कि बीस-तीस हज़ार, जो कुछ मिलेगा, वह लेकर बम्बई आ जाऊँगा और हम आप मिल कर जर्नलिज़म करेंगे। मैं और आप...आप और मैं..."

और यह कहकर, हज़रतगंज की सड़क के बीचोबीच उसने मुझसे गले मिलना शुरू कर दिया।

"मैं और आप...आप और मैं..."

"अरे, मुन्नन मियाँ, यहाँ आप क्या कर रहे हैं?" यह एक मैली-सी शेरवानी पहने हुए दुबला-पतला, काला-सा युवक था।

"कौन? अरे, पुत्तन! तू क्या कर रहा है?" और यह कहकर, उसने मुझे छोड़ कर उस नवागन्तुक से गले मिलना शुरू कर दिया। वह भी कुछ पेग चढ़ाये हुए था, क्योंकि दोनों ओर से गले मिलने में ख़ूब उत्साह दिखाया जा रहा था।

"मुन्नन मियाँ, चलते हो चौक?"

"चौक-वौक जाना मैंने छोड़ दिया है। मगर ये हमारे दोस्त हैं अब्बास साहब। बम्बई से आये हैं। चलो इनको सैर करा दें। मैं तो मुद्दत से उधर गया ही नहीं। कोई है माक़ूल सूरत?"

"अरे, है क्यों नहीं? चम्पा के यहाँ ले चलता हूँ। तबियत फड़क जायगी, मुन्नन मियाँ।"

"चम्पा? चम्पा?" उसने मस्तिष्क पर ज़ोर डालते हुए दोहराया। "कोई नयी होगी। चलो, देखें तो।"

मेरी राय किसी ने पूछी ही नहीं और मोटर चौक की तरफ़ रवाना हो गयी। रास्ते में उसने मुझसे कहा, "अब्बास साहब, सिर्फ़ आपकी ख़ातिर इस कूचे में फिर क़दम रख रहा हूँ, नहीं तो मैंने तो यह रास्ता ही छोड़ दिया है।"

सड़क के किनारे मोटर रोककर गलियों में पैदल चलना पड़ा। अँधेरी, तंग, दुर्गन्ध-भरी गलियाँ! किन्तु मेरे दोस्त के क़दम इन गलियों के घुमाव-फिराव से परिचित थे। रास्ते भर वह प्रत्येक कोठे के बारे में बयान करता रहा—"यह मज्जन का कोठा है। हमारे दादा ने यहीं सवा लाख रुपया लुटाया है।...और यहाँ हमारे चचा जान ने दो लाख मुशतरी पर न्योछावर कर दिये।...शुरू-शुरू में मैं यहाँ आया करता था। मगर बड़ी जल्दी मोटी हो गयी।...और मुझे मोटी औरतों से नफ़रत है। मैं तो कहता हूँ, औरत में नज़ाकत नहीं, तो कुछ भी नहीं।"

गन्तव्य स्थान आ गया। कोठे पर चढ़ने से पहले उसने मुझे रोककर

कहा, "अब्बास साहब, भूलिएगा नहीं...बम्बई...मैं और आप...हम दोनों जर्नलिज़्म करेंगे जर्नलिज़्म...यह शरीफ़ों का वायदा है।"

"अरे, आओ भी, मुन्नन मियाँ। छोड़ो इन बातों को।" उस दुबले-पतले, काले युवक ने कहा।

और हम सीढ़ियों पर होते हुए कोठे पर पहुँच गये।

एक काली, भद्दी स्त्री ने हमारा स्वागत किया और पुत्तन को साथ लेकर दूसरे कमरे में चली गयी। हम दोनों चाँदनी के फ़र्श पर गाव-तकियों के सहारे बैठ गये। दीवार पर एक सुन्दर युवती की बहुत-सी तस्वीरें टँगी हुई थीं, अधिकांश अकेली। किन्तु कुछ चित्रों में वह किसी सुन्दर युवक के साथ थी। मैं जिज्ञासु की भाँति खड़ा होकर उन चित्रों को देखने लगा। वह सुन्दर युवक मेरा मित्र ही था। मुझे इससे कोई विशेष अचरज न हुआ। मैं उससे इसके बारे में कुछ कहने के लिए घूमा ही था कि देखा, एक दुबली-पतली, कोमल नख-शिख वाली युवती कमरे में प्रवेश कर रही है। मेरा मित्र एकाएक खड़ा हो गया और मुझे सम्बोधित कर चिल्ला पड़ा, "लो, अब याद आ गया वह नाम। चम्पा! चम्पा ही तो था।"

"आपने तो हमें भुला ही दिया, मुन्नन मियाँ," युवती ने बैठते हुए, बड़े अन्दाज़ से कहा, "ईद का चाँद भी तो साल में एक बार निकल आता है। पर आप तो दो साल से ग़ायब हैं।"

वह बोला, "लाहौल विलाक़ूवत! माफ़ करना। इतने दिनों के बाद मुलाक़ात हुई।"

चम्पा नक़ली ठण्डी साँस भरकर बोली, "आप तो हमें भूल ही गये, सरकार।"

"क्या बात करती हो! भला तुम्हें भूल सकता हूँ...? हाँ, यह और बात है कि तुम्हारा नाम भूल गया था।"

चम्पा ने गाना शुरू किया। बुरा गाती थी।

उसने मेरे कान में कहा, "कहिए, क्या राय है?"

मैंने जवाब दिया, "शक्ल-सूरत अच्छी है।"

"अच्छी है? बस? इसी पर आप स्टोरी-रायटर और लेखक होने का दावा करते हैं?... ग़ज़ब है साहब, ग़ज़ब। ज़रा नज़ाकत तो मुलाहज़ा कीजिए। सच पूछिए तो साहब, इस नज़ाकत पर ही तो हम लखनऊ वाले मरते हैं।"

चम्पा अपनी बेसुरी आवाज़ में गाती रही। एक सिगरेट से दूसरा सिगरेट जलता रहा, और धुएँ के हलक़ों की ज़ंजीर में वह फिर गिरफ़्तार हो गया।

जब दो बजे तो मैंने कहा, "अब चलो भाई। मुझे सुबह की गाड़ी से जाना है।"

वह बोला, "छोड़ो यार, गाड़ी-वाड़ी को!"

मैंने कहा, "मुझे परसों बम्बई पहुँचना है।"

उसने कहा, "गोली मारो बम्बई को!"

मैंने कहा, "मुझे ज़रूरी काम है वहाँ।"

उसने कहा, "इससे बढ़कर कोई ज़रूरी काम दुनिया में नहीं। ज़िन्दगी है तो यह है।...आपको हमारी क़सम...इसकी क़ातिल मुस्कराहट तो देखिए।"

मैंने कहा, "मैं जाता हूँ।"

उसने कहा, "आपकी मरज़ी!...बन्दा तो यहीं ठहरने वाला है।" और यह कहकर उसने धुएँ से छल्लों की ज़ंजीर का एक और घेरा अपने गिर्द डाल लिया।

चलते-चलते मैंने कहा, "और वह जर्नलिज़्म?"

उसने जैसे यह शब्द ही आज पहली बार सुना था। "जर्नलिज़्म?... जर्नलिज़्म?...जर्नलिज़्म की ऐसी-तैसी!"

ज़ीने पर उतरने से पहले मैंने पीछे मुड़ कर देखा तो वह नीम बेहोश हालत में गाव-तकिये के सहारे पसरा पड़ा था मानो मरणासन्न हो। पास ही ऐश-ट्रे के पानी में असंख्य सिगरेटों की लाशें सड़ रहीं थीं। चम्पा गा रही थी। वे दोनों एक धुएँ की ज़ंजीर में बँधे हुए थे। और वह बड़बड़ा रहा था, "जर्नलिज़्म!...हुँह, जर्नलिज़्म की ऐसी-तैसी।"

'ऐसी-तैसी' तो मैंने सेन्सर के डर से लिखा है, नहीं उसने कुछ और ही कहा था।

●

मुमताज़ मुफ़्ती

आपा

जब कभी बैठे-बैठाये मुझे आपा याद आती है तो मेरी आँखों के आगे एक छोटा-सा बिल्लौरी दिया आ जाता है, जो मद्धिम लौ से जल रहा हो।

मुझे याद है, एक रात हम सब चुपचाप बावर्चीख़ाने में बैठे थे—मैं, आपा और अम्मी जान, कि छोटा बद्दू भागता हुआ आया। उन दिनों बद्दू यही छः-सात साल का होगा। कहने लगा, "अम्मी जान, मैं भी बाह (ब्याह) करूँगा।"

"ओह, अभी से!" अम्माँ ने मुस्कराते हुए कहा, फिर कहने लगीं, "अच्छा बद्दू, तुम्हारा ब्याह आपा से कर दें?"

"ऊँहूँ।" बद्दू ने सिर हिलाते हुए कहा।

अम्माँ कहने लगीं, "क्यों, आपा को क्या है?"

"हम तो छाजो बाजी से बाह करेंगे।" बद्दू ने आँखें चमकाते हुए कहा।

अम्माँ ने आपा की ओर मुस्कराते हुए देखा और कहने लगीं, "क्यों, देखो तो आपा कैसी अच्छी है?"

"मैं बताऊँ कैसी है ?" वह चिल्लाया ।

"हाँ बताओ तो भला ।" अम्माँ ने पूछा ।

बद्दू ने आँखें उठाकर चारों तरफ़ देखा, जैसे कुछ ढूँढ रहा हो। फिर उसकी निगाह चूल्हे पर आ रुकी । चूल्हे में उपले का एक जला हुआ टुकड़ा पड़ा था । बद्दू ने उसकी ओर इशारा किया और बोला, "ऐसी ।" फिर बिजली के जलते बल्ब की तरफ़ उँगली उठाकर चीखने लगा, "और छाजो बाजी ऐसी ।"

इस बात पर हम सब बहुत देर तक हँसते रहे । इतने में तसद्दुक़ भाई आ गये । अम्माँ कहने लगीं, "तसद्दुक़ ! बद्दू से पूछना तो कि आपा कैसी हैं ?"

आपा ने तसद्दुक़ भाई को आते हुए देखा तो मुँह मोड़कर यों बैठ गयी जैसे हँडिया पकाने में व्यस्त हो ।

"हाँ, तो कैसी है आपा, बद्दू ?"

"बताऊँ ?" बद्दू चिल्लाया और उसने उपले का टुकड़ा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया । शायद वह उसे हाथ में लेकर हमें दिखाना चाहता था । पर आपा ने झट उसका हाथ पकड़ लिया और उँगली हिलाते हुए बोली, "उँह !" बद्दू रोने लगा तो अम्माँ कहने लगीं—"पगले, इसे हाथ में नहीं उठाते । इसमें चिनगारी है ।"

"वह तो जला हुआ है अम्माँ ।" बद्दू ने बिसूरते हुए कहा ।

अम्माँ बोलीं—"न मेरे लाल ! तुम्हें मालूम नहीं । इसके अन्दर तो आग है । ऊपर से नहीं दिखायी देती ।"

बद्दू ने भोलेपन से पूछा, "क्यों आपा, इसमें आग है ?"

उस वक़्त आपा के मुँह पर हल्की-सी सुर्ख़ी दौड़ गयी । "मैं क्या जानूँ ?" वह भरायी हुई आवाज़ में बोली और फुँकनी उठाकर जलती हुई आग में बेमतलब फूँकें मारने लगी ।

अब मैं समझती हूँ कि आपा दिल की गहराइयों में जीती थी और वे गहराइयाँ ऐसी अथाह थीं कि बात उभरती भी तो निकल न सकती । । उस

दिन बद्दू ने कैसी पते की बात कही थी। पर मैं कहा करती थी, "आपा, तुम तो बस बैठ रहती हो।" और वह मुस्कराकर कहती, "पगली !" और अपने काम में लग जाती। यों तो वह सारा दिन काम में लगी रहती थी। हर कोई उसे किसी-न-किसी काम को कह देता और एक ही वक़्त में उसे कई काम करने पड़ जाते। इधर बद्दू चीख़ता, 'आपा, मेरा दलिया।' उधर अब्बा घूरते, 'सज्जादा, अभी तक चाय क्यों नहीं बनी ?' बीच में अम्माँ बोल उठतीं, 'बेटा, धोबी कब से बाहर खड़ा है।' और आपा चुपचाप सारे कामों से निपट लेती। यह तो मैं ख़ूब जानती थी। लेकिन इसके बावजूद ख़ुदा जाने क्यों, उसे काम करते हुए देखकर यह महसूस नहीं होता था कि वह काम कर रही है या वह इतना काम करती है। मुझे तो बस यही मालूम होता था कि वह बैठी ही रहती है, और उसे इधर-से-उधर गर्दन मोड़ने में भी इतनी देर लगती है: और चलती है तो चलती हुई मालूम नहीं होती। इसके अलावा मैंने आपा को कभी ठहाका मारकर हँसते हुए नहीं सुना था। ज़्यादा-से-ज़्यादा वह मुस्करा दिया करती थी और बस। हाँ, वह मुस्कराया अक्सर करती। जब वह मुस्कराती तो उसके होंठ खुल जाते और आँखें किसी भाव से भीग जातीं, मानो किसी नदी के किनारे चाँदनी में कोई खरज में सिन्धी भैरवी अलाप रहा हो। पर उन दिनों मुझे चाँदनी और सिन्धी भैरवी का क्या पता था। इसलिए मैं समझती थी कि आपा चुपकी बैठी ही रहती है, ज़रा नहीं हँसती और बिना चले, लुढ़क कर यहाँ से वहाँ पहुँच जाती है, जैसे किसी ने उसे ढकेल दिया हो। इसके उलट साहिरा कितने मज़े में चलती थी। जैसे दादरे की ताल पर नाच रही हो और अपनी मौसेरी बहन साजो बाजी को चलते देखकर मैं कभी न उकताती। जी चाहता था कि बाजी हमेशा मेरे पास रहे और चलती-चलती इसी तरह गर्दन मोड़कर पंचम स्वर में कहे—'है जी, क्यों जी ?' और उसकी काली-काली आँखों के कोने मुस्कराने लगें। बाजी की हर बात मुझे कितनी प्यारी थी। साहिरा और सुरैया हमारे पड़ोस में रहती थीं और दिन भर उनका मकान उनके ठहाकों से गूँजता रहता, जैसे किसी मन्दिर में घंटियाँ बज रही हों। बस, मेरा जी चाहता था कि इन्हीं के

घर जा रहूँ। हमारे घर में रखा ही क्या था। एक बैठी रहने वाली आपा, एक 'यह करो, वह करो' वाली अम्माँ और दिन भर हुक़्क़ा गुड़गुड़ाने वाले अब्बा।

उस दिन, जब मैंने अब्बा को अम्मी से कहते हुए सुना—सच तो यह है, मुझे बेहद ग़ुस्सा आया। अब्बा कहने लगे, "सज्जादा की माँ, मालूम होता है, साहिरा के घर में बहुत से बर्तन हैं।"

"क्यों?" अम्माँ पूछने लगीं।

कहने लगे, "बस, सारे दिन बर्तन ही बजते रहते हैं और या क़हक़हे लगते हैं, जैसे कोई मेला हो।"

अम्माँ तुनक कर बोलीं, "मुझे क्या मालूम। आप तो बस लोगों के घर की तरफ़ कान लगाये बैठे रहते हैं।"

अब्बा कहने लगे, "ओफ़्फ़ोह, मेरा तो यह मतलब है कि जहाँ लड़की जवान हुई, बर्तन बजने लगे। बाज़ार के उस मोड़ तक लोगों को ख़बर हो जाती है कि फ़लाँ घर में एक लड़की जवान हो चुकी है। पर देखो न, हमारी सज्जादा में यह बात बिलकुल नहीं।" मैंने अब्बा की बात सुनी और मेरा दिल खौलने लगा।—बड़ी आयी सज्जादा। जी हाँ, अपनी बेटी जो हुई। उस वक़्त मेरा जी चाहता था कि जाकर रसोई में बैठी हुई आपा को मुँह चिढ़ाऊँ। इसी बात पर मैंने दिन भर खाना न खाया और दिल-ही-दिल में खौलती रही, अब्बा जानते ही क्या हैं। बस हुक़्क़ा लिया और गुड़गुड़ कर लिया, या ज़्यादा-से-ज़्यादा किताब खोलकर बैठ गये और गिट-मिट गिट-मिट करने लगे, जैसे कोई भटियारी मक्की के दाने भून रही हो। सारे घर में ले दे के सिर्फ़ तसद्दुक़ भाई ही थे जो दिलचस्प बातें किया करते थे। और जब अब्बा घर में न होते तो वे भारी-सी आवाज़ में गाया भी करते थे। ख़ुदा जाने वह कौन-सा शेर था।...हाँ—

चुप-चुप से वो बैठे हैं आँखों में नमी-सी है
नाज़ुक-सी निगाहों में नाज़ुक-सा फ़साना है।

आपा उन्हें गाते हुए सुनकर किसी-न-किसी बात पर मुस्करा देती और

कोई बात न होती तो वह बद्दू को हल्का-सा थप्पड़ मारकर कहती—"बद्दू गोना" और फिर आप-ही-आप बैठकर मुस्कराती रहती। तसद्दुक़ भाई मेरे फूफा के बेटे थे। उन्हें हमारे घर आये कोई यही दो महीने हुए होंगे। कॉलेज में पढ़ते थे। पहले तो वे बोर्डिंग में रहा करते थे, फिर एक दिन जब फूफी आयी हुई थीं तो बातों में उनका ज़िक्र छिड़ गया। फूफी कहने लगीं, "बोर्डिंग में खाने का इन्तज़ाम ठीक नहीं। लड़का आये दिन बीमार रहता है।" अम्माँ इस बात पर खूब लड़ीं। कहने लगीं, "अपना घर मौजूद है तो बोर्डिंग में पड़े रहने का मतलब?" फिर उन दोनों में बहुत-सी बातें हुईं। अम्माँ की तो आदत है कि अगली-पिछली तमाम बातें ले बैठती हैं। ग़रज़ यह कि एक हफ़्ते के बाद तसद्दुक़ भाई बोर्डिंग को छोड़कर हमारे यहाँ आ ठहरे।

तसद्दुक़ भाई मुझसे और बद्दू से बड़ी गप्पें हाँका करते थे। उनकी बातें बेहद दिलचस्प होतीं। बद्दू से तो वे दिन भर न उकताते। हाँ, आपा से वे ज़्यादा बातें न करते। करते भी कैसे? जब कभी वे आपा के सामने जाते तो आपा के दुपट्टे का पल्लू आप-ही-आप सरक कर घूँघट-सा बन जाता और उस की भीगी-भीगी आँखें झुक जातीं और वह किसी-न-किसी काम में तेज़ी से लगी दिखायी देती। अब मुझे ख़याल आता है कि आपा उनकी बातें ग़ौर से सुना करती थी, हालाँकि कहती कुछ नहीं थी। भाई साहब भी बद्दू से आपा के बारे में पूछते रहते, लेकिन सिर्फ़ उसी वक्त, जब वे दोनों अकेले होते। पूछते—"बद्दू, तुम्हारी आपा क्या कर रही है?"

"आपा," बद्दू लापरवाही से दोहराता, "बैठी है...बुलाऊँ?"

भाई साहब घबरा कर कहते, "नहीं, नहीं, अच्छा बद्दू आज, तुम्हें, यह देखो इस तरफ़। तुम्हें दिखायें...।"

और जब बद्दू का ध्यान इधर-उधर हो जाता तो मद्धिम-सी आवाज़ में कहते, "अरे यार, तुम तो मुफ़्त का ढिंढोरा हो।"

बद्दू चीख़ उठता, "क्या हूँ मैं?"

इस पर वह मेज़ बजाने लगते, "डगमग डगमग ढिंढोरा। यानी यह ढिंढोरा है। देखा? जिसे ढोल भी कहते हैं। डगमग डगमग...समझे?"

और आपा अक्सर चलते-चलते उनके दरवाज़े पर ठहर जाती और उनकी बातें सुनती रहती और फिर चूल्हे के पास बैठकर आप-ही-आप मुस्कराती। उस वक्त उसके सिर से दुपट्टा सरक जाता, बालों की कोई लट फिसल कर गाल पर आ गिरती और वे भीगी-भीगी आँखें चूल्हे में नाचते हुए शोलों की तरह झूमतीं। आपा के होंठ यों हिलते, जैसे गा रही हो, पर शब्द सुनायी न देते। ऐसे में अगर अम्माँ या अब्बा बावर्चीख़ाने में आ जाते तो वह ठिठक कर यों अपना दुपट्टा, बाल और आँखें सम्हालती, जैसे किसी बेतकल्लुफ़ महफ़िल में कोई पराया आ घुसा हो।

एक दिन मैं, आपा और अम्माँ बाहर आँगन में बैठी थीं। उस वक्त भाई साहब अन्दर अपने कमरे में बद्दू से बातें कर रहे थे। मेरा ख़याल है, भाई साहब को यह मालूम नहीं था कि हम बाहर बैठे हुए उनकी बातें सुन रहे हैं। भाई साहब बद्दू से कह रहे थे, "मेरे यार, हम तो उससे ब्याह करेंगे, जो हमसे अँगरेज़ी में बातें कर सके, शतरंज, कैरम और चिड़िया खेल सके। चिड़िया जानते हो? वह गोल-गोल परों वाली गेंद, बल्ले से, यों डज़ टन डज़...और सबसे ज़रूरी बात यह है कि हमें मज़ेदार खाने पकाकर खिला सके। समझे?"

बद्दू बोला, "हम तो छाजो बाजी से ब्याह करेंगे।"

"ऊँह!" भाई साहब ने कहा।

बद्दू चीख़ने लगा, "मैं जानता हूँ, तुम आपा से ब्याह करोगे। हाँ!"

उस वक़्त अम्माँ ने मुस्कराकर आपा की तरफ़ देखा, लेकिन आपा अपने पाँव के अँगूठे का नाख़ून तोड़ने में इतनी व्यस्त थी, जैसे कुछ ख़बर ही न हो। अन्दर भाई साहब कह रहे थे, "बाह, तुम्हारी आपा फ़िरनी पकाती है तो उसमें पूरी तरह चीनी भी नहीं डालती। बिलकुल फीकी। आख़ थू!"

बद्दू ने कहा, "अब्बा जो कहते हैं, फ़िरनी में मीठा कम होना चाहिए।"

वे बोले, "तो वह अपने अब्बा के लिए पकाती है न। हमारे लिए तो नहीं!"

"मैं कहूँ आपा से?" बद्दू चीख़ा।

भाई साहब बोले, "ओह पगला, ढिंढोरा! लो तुम्हें ढिंढोरा पीटकर दिखायें। यह देखो, इस तरफ़। डगमग, डगमग, डगमग।"

बद्दू फिर चिल्लाने लगा, "मैं जानता हूँ। तुम मेज़ बजा रहे हो न!"

"हाँ, हाँ, इसी तरह ढिंढोरा पिटता है न," भाई साहब कह रहे थे, "कुश्तियों में। अच्छा बद्दू, तुमने कभी कुश्ती लड़ी है। आओ, हम तुम कुश्ती लड़ें। मैं हुआ गामाँ और तुम बद्दू पहलवान। लो आओ। ठहरो, जब मैं तीन कहूँ।" और उसके साथ ही उन्होंने मद्धिम आवाज़ में कहा, "अरे यार, तुम्हारी दोस्ती तो मुझे बहुत महँगी पड़ती है।"

मेरा ख़याल है, आपा हँसी न रोक सकी, इसलिए वह उठकर बावर्ची-ख़ाने में चली गयी। मेरा तो हँसी के मारे दम निकला जा रहा था और अम्माँ ने तो अपने मुँह में दुपट्टा ठूँस लिया था कि आवाज़ न निकले।

मैं और आपा दोनों अपने कमरे में बैठे हुए थे कि भाई साहब आ गये। कहने लगे, "क्या पढ़ रही हो ज...हे...ना?" उनके मुँह से जहेना सुनकर मुझे बड़ी ख़ुशी होती थी। हालाँकि मुझे अपने नाम से बेहद नफ़रत थी। नूरजहाँ कैसा पुराना नाम है! बोलते ही मुँह में बासी रोटी का मज़ा आने लगता। मैं तो नूरजहाँ नाम सुनकर यों महसूस किया करती थी, जैसे किसी इतिहास की किताब के फटे-पुराने पन्ने से कोई बूढ़ी अम्माँ सोंटा टेकती हुई आ रही हों। पर भाई साहब को नाम बिगाड़कर उसे सँवार देने में कमाल हासिल था। उनके मुँह से 'जहेना' सुनकर मुझे अपने नाम से कोई शिकायत न रहती और यह महसूस करती मानो मैं ईरान की शहज़ादी हूँ। आपा को वह सज्जादा से सजदे कहा करते थे। पर वह तो पुरानी बात थी। जब आपा छोटी थी। अब तो भाई साहब उसे सजदे न कहते, बल्कि उसका पूरा नाम तक लेने से घबराते थे। ख़ैर, मैंने जवाब दिया, "स्कूल का काम कर रही हूँ।"

पूछने लगे, "तुमने कोई बर्नार्ड शा की किताब पढ़ी है क्या?"

मैंने कहा, "नहीं।"

उन्होंने मेरे और आपा के बीच दीवार पर लटकी हुई घड़ी की तरफ़ देखते हुए कहा, "तुम्हारी आपा ने तो 'हार्ट ब्रेक हाउस' पढ़ी होगी।" वे

शायद कनखियों से आपा की तरफ़ देख रहे होंगे।

आपा ने आँखें उठाये बिना ही सिर हिला दिया और मद्धिम-सी आवाज़ में कहा, "नहीं।" और स्वेटर बुनने में लगी रही।

भाई साहब बोले, "ओह! क्या बताऊँ जहेना कि वह क्या चीज़ है। नशा है नशा, ख़ालिस शहद। तुम उसे ज़रूर पढ़ो। बिलकुल आसान है। यानी, इम्तहान के बाद ज़रूर पढ़ना। मेरे पास पड़ी है।"

मैंने कहा, "ज़रूर पढ़ूँगी।"

फिर पूछने लगे, "मैं कहता हूँ तुम्हारी आपा ने मैट्रिक के बाद पढ़ना छोड़ क्यों दिया?"

मैंने चिढ़कर कहा, "मुझे क्या मालूम, आप ख़ुद ही पूछ लीजिए।" हालाँकि मुझे अच्छी तरह से मालूम था कि आपा ने कॉलेज में जाने से क्यों इनकार किया था। कहती थी, मेरा तो कॉलेज जाने को जी नहीं चाहता। वहाँ लड़कियों को देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई नुमायश हो। कालेज तो मालूम ही नहीं होता। जैसे पढ़ाई के बहाने मेला लगा हो। मुझे आपा की यह बात बहुत बुरी लगी थी। मैं जानती थी कि वह घर में बैठ रहने के लिए कॉलेज जाना नहीं चाहती। बड़ी आयी थी नुक्ताचीनी करने वाली। इसके अलावा जब कभी भाई जान आपा की बात करते तो मैं ख़ामख़्वाह चिढ़ जाती। आपा तो बात का जवाब तक नहीं देती और ये आपा आपा कर रहे हैं। और फिर आपा की बात मुझसे पूछने का मतलब! मैं क्या टेलीफ़ोन थी? ख़ुद आपा से पूछ लेते। और आपा, बैठी हुई गुम-सुम आपा—भीगी बिल्ली!

शाम को अब्बा खाने पर बैठे हुए चिल्ला उठे, "आज फ़िरनी में इतनी शक्कर क्यों है? मीठे से होंठ चिपके जाते हैं। सज्जादा, सज्जादा बेटी! क्या चीनी इतनी सस्ती हो गयी है। एक चमचा निगलना भी मुश्किल है।"

आपा की भीगी-भीगी आँखें झूम रही थीं। हालाँकि जब कभी अब्बा जान ख़फ़ा होते तो आपा का रंग पीला पड़ जाता। लेकिन उस वक़्त उसके गाल तमतमा रहे थे। कहने लगी, "शायद ज़्यादा पड़ गयी हो।" यह कहकर वह

तो बावर्चीख़ाने में चली गयी और मैं दाँत पीसने लगी—शायद, क्या ख़ूब शायद !

उधर अब्बा पूर्ववत बड़बड़ा रहे थे, "चार-पाँच दिन से देख रहा हूँ कि फ़िरनी में मीठा बढ़ता जा रहा है।" आँगन से अम्माँ दौड़ी-दौड़ी आयीं और आते ही अब्बा पर बरस पड़ीं, जैसी उनकी आदत है, "आप तो नाहक़ बिगड़ते हैं। आप हल्का मीठा पसन्द करते हैं तो क्या बाक़ी लोग भी कम खायें ? अल्लाह रखे, घर में जवान लड़का है, उसका तो ख़याल करना चाहिए।" अब्बा को जान छुड़ानी मुश्किल हो गयी। कहने लगे, "ओह यह बात है। मुझे बता दिया होता। मैं कहता सज्जादा की माँ..." और वे दोनों खुसर-फुसर करने लगे।

आपा साहिरा के घर जाने को तैयार हुई तो मैं बड़ी हैरान हुई। आपा तो उससे मिलना क्या, बात तक करना पसन्द नहीं करती थीं, बल्कि उसके नाम पर ही नाक-भौं चढ़ाया करती थी। मैंने ख़याल किया कि ज़रूर कोई भेद है इस बात में। कभी-कभार साहिरा दीवार के साथ चारपाई खड़ी करके उस पर चढ़ कर हमारी तरफ़ झाँकती और किसी बात से बात-चीत का सिलसिला बढ़ाने की कोशिश करती तो आपा बड़ी बेदिली से दो-एक बातों में ही उसे टाल देती। आप-ही-आप बोल उठती—"अभी तो इतना काम पड़ा है, और मैं यहाँ खड़ी हूँ।" यह कहकर वह बावर्चीख़ाने में जा बैठती। ख़ैर, उस वक़्त तो मैं चुपचाप बैठी रही, पर आपा जब लौट चुकी तो कुछ देर के बाद चुपके से मैं भी साहिरा के घर जा पहुँची। बातों-ही-बातों में मैंने ज़िक्र छेड़ दिया, "आज आपा आयी थी ?"

साहिरा ने नाख़ून पर पालिश लगाते हुए कहा, "हाँ, कोई किताब मँगवाने को कह गयी है। ख़ुदा जाने क्या नाम है उसका। हाँ, 'हार्ट ब्रेक हाउस'।"

आपा उस किताब को मुझसे छिपाकर दराज़ में बन्द रखती थी। मुझे क्या मालूम नहीं था। रात को वह बार-बार कभी मेरी तरफ़ और कभी घड़ी

की तरफ़ देखती रहती। उसे यों बेचैन देखकर मैं दो-एक झूठी अंगड़ाइयाँ लेती और फिर किताब बन्द करके रज़ाई में यों पड़ जाती जैसे घंटों से गहरी नींद में डूब चुकी हूँ। जब उसे विश्वास हो जाता कि मैं सो चुकी हूँ तो दरवाज़ा खोलकर वह किताब निकाल लेती और उसे पढ़ना शुरू कर देती। आख़िर एक दिन मुझसे न रहा गया। मैंने रज़ाई से मुँह निकाल कर पूछ ही लिया, "आपा, यह हार्ट ब्रेक हाउस का मतलब क्या है? दिल तोड़ने वाला घर—इसके क्या माने हुए?"

पहले तो आपा ठिठक गयी, फिर वह सम्हल कर उठी और बैठ गयी। पर उसने मेरी बात का जवाब न दिया। मैंने उसकी ख़ामोशी से जलकर कहा, "इस लिहाज़ से तो हमारा घर भी हार्ट ब्रेक है।"

कहने लगी, "मैं क्या जानूँ?"

मैंने उसे जलाने को कहा, "हाँ, हमारी आपा भला क्या जाने।" मेरा ख़याल है, यह बात ज़रूर उसके दिल को लगी होगी। क्योंकि उसने किताब रख दी और बत्ती बुझाकर सो गयी।

एक दिन योंही फिरते-फिराते मैं भाई जान के कमरे में जा निकली। पहले तो भाई जान इधर-उधर की बातें करते रहे, फिर पूछने लगे, "जहेना, अच्छा यह तो बताओ, क्या तुम्हारी आपा को फ़्रूट स्लाद बनाना आता है?"

मैंने कहा, "मैं क्या जानूँ। जाकर आपा से पूछ लीजिए।"

हँस कर कहने लगे, "आज क्या किसी से लड़कर आयी हो?"

"क्यों, मैं लड़ाका हूँ?" मैंने कहा।

बोले, "नहीं। अभी तो लड़की हो। शायद किसी दिन लड़ाका हो जाओ।" इस पर मेरी हँसी निकल गयी। वे कहने लगे, "देखो जहेना! मुझे लड़ना बेहद पसन्द है। मैं तो ऐसी लड़की से ब्याह करूँगा, जो बाक़ायदा सुबह से शाम तक लड़ सके। ज़रा न उकताये।"

जाने क्यों, मगर मैं शरमा गयी और बात बदलने के लिए मैंने पूछा, "फ़्रूट स्लाद क्या होता है भाई जान?"

बोले, "वह भी कुछ होता है। सफ़ेद-सफ़ेद, लाल-लाल, काला-काला,.

नीला-नीला-सा।"

मैं उनकी बात सुनकर बहुत हँसी। फिर वे कहने लगे, "वह मुझे बेहद पसन्द है। यहाँ तो जहेना, हम फ़िरनी खा-खाकर उकता गये।"

मेरा ख़याल है, यह बात आपा ने ज़रूर सुन ली होगी, क्योंकि उसी शाम को वह बावर्चीख़ाने में बैठी खाना पकाने की तरकीबों वाली किताब 'नेमतख़ाना' पढ़ रही थी। उस दिन के बाद रोज़, बिला नाग़ा, वह खाने-पकाने से छुट्टी करके .फ्रूट सलाद बनाने का अभ्यास किया करती और हम में से कोई उसके पास चला जाता तो झट .फ्रूट सलाद की किश्ती छिपा देती। एक दिन आपा को छेड़ने के लिए मैंने बद्दू से कहा, "बद्दू, भला बूझो तो, वह किश्ती जो आपा के पीछे पड़ी है, उसमें क्या है?"

बद्दू हाथ धोकर आपा के पीछे पड़ गया, यहाँ तक कि आपा को वह किश्ती बद्दू को देनी ही पड़ी। फिर मैंने बद्दू को और भी चढ़ाया। मैंने कहा, "बद्दू, जाओ तो, भाई जान से पूछो कि इस खाने का क्या नाम है...?"

बद्दू भाई जान के कमरे की तरफ़ जाने लगा तो आपा ने उठकर वह किश्ती उससे छीन ली और मेरी तरफ़ घूर कर देखा। उस दिन पहली बार आपा ने मुझे यों घूरा था। उस रात आपा शाम ही से लेट गयी। मुझे साफ़ दिखायी देता था कि वह रज़ाई में पड़ी रो रही है। उस वक़्त मुझे अपनी बात पर बहुत अफ़सोस हुआ। मेरा जी चाहता था कि उठकर आपा के पाँव पड़ जाऊँ और उसे ख़ूब प्यार करूँ। पर मैं वैसे ही चुपचाप बैठी रही और किताब का एक शब्द तक न पढ़ सकी।

उन्हीं दिनों मेरी मौसेरी बहन साजिदा, जिसे हम सब साजो बाजी कहा करते थे, मैट्रिक का इम्तहान देने हमारे घर आ ठहरी। साजो बाजी के आने पर हमारे घर में रौनक़ हो गयी। हमारा घर भी क़हक़हों से गूँज उठा। साहिरा और सुरैया चारपाइयों पर खड़ी होकर बाजी से बातें करती रहतीं और बद्दू 'छाजो बाजी, छाजो बाजी' चीख़ता फिरता और कहता, "हम तो छाजो बाजी से ब्याह करेंगे।"

बाजी कहती, "शक्ल तो देखो अपनी। पहले मुँह धो आओ।" फिर वह भाई जान की तरफ़ यों गर्दन मोड़ती कि उसकी काली-काली आँखों के कोने मुस्कराने लगते और वह पंचम तान में पूछती, "है ना भई जा...न... क्यों जी?"

बाजी के मुँह से 'भई जा...ा...न' कुछ ऐसा भला सुनाय पड़ता कि मैं ख़ुशी से फूली न समाती। इस के उलट जब कभी आपा 'भाई साहब' कहती तो कैसा भद्दा लगता। मानो वह सचमुच उन्हें भाई कह रही हो और फिर 'साहब' जैसे गले में कुछ फँसा हुआ हो। पर बाजी 'साहब' की जगह 'जा...ा...न' कह कर इस सादे-से शब्द में जान डाल देती थी। 'जा...ा...न' की गूँज में 'भाई' दब जाता और यह महसूस ही न होता कि वह उन्हें भाई कह रही है। इसके अलावा 'भई जा...ा...न' कह कर वह ऐसी काली-काली चमकदार आँखों से देखती और आँखों-ही-आँखों में हँसती कि सुनने वाले को बिलकुल यह गुमान न होता कि उसे भाई कहा गया है। आपा के 'भाई साहब' और बाजी के 'भई जा...ा...न' में कितना फ़र्क़ था!

बाजी के आने पर आपा का बैठ रहना बिलकुल बैठ रहना ही हो गया। बद्दू ने भाई जान से खेलना छोड़ दिया। वह बाजी के इर्द-गिर्द फिरता रहता और बाजी भाई जान से कभी शतरंज, कभी कैरम खेलती। बाजी कहती, "भई जा...ा...न एक बोर्ड लगेगा?" या भाई जान बाजी के सामने बद्दू से कहते, "क्यों म्याँ बद्दू, कोई है जो हमसे शतरंज में पिटना चाहता हो?" बाजी बोलती, "आपा से पूछिए।" भाई जान कहते, "और तुम?" बाजी झूठ-मूठ सोच में पड़ जाती। चेहरे पर गम्भीरता पैदा कर लेती। भवें सिमटा लेती और त्योरी चढ़ाकर खड़ी रहती। फिर कहती, "उँह, मुझसे तो आप पिट जायेंगे।" भाई जान खिलखिलाकर हँस पड़ते और कहते, "कल जो पिटी थीं, वह भूल गयीं क्या?" वह जवाब देती, "मैंने कहा चलो भई जा...ा...न का लिहाज़ कर दो, वरना दुनिया क्या कहेगी कि मुझसे हार गये।" और फिर यों हँसती जैसे गले में घुँघरू बज रहे हों।

रात को भाई जान बावर्चीख़ाने में ही खाना खाने बैठ गये। आपा चुप-

चाप चूल्हे के सामने बैठी थी। बद्दू छाजो बाजी, छाजो बाजी कहता हुआ बाजी के दुपट्टे का पल्लू पकड़े उसके आस-पास घूम रहा था। बाजी भाई जान को छेड़ रही थी। कहती थी, "भई जा...ा...न तो सिर्फ़ साढ़े छः फुल्के खाते हैं। इसके अलावा फ़िरनी की प्लेट मिल जाय तो कोई मुज़ायक़ा नहीं। करें भी क्या। न खायें तो मुमानी नाराज़ हो जायें। उन्हें भी तो ख़ुश रखना है। है न भई जा...ा...न।"

हम सब इस बात पर ख़ूब हँसे। फिर बाजी इधर-उधर टहलने लगी और आपा के पीछे जा खड़ी हुईं। आपा के पीछे फ्रूट स्लाद की ट्रे पड़ी थी। बाजी ने ढकना सरका कर देखा और ट्रे को उठा लिया। इसके पहले कि आपा कुछ कह सकें, बाजी वह ट्रे भाई जान की तरफ़ ले आयी।

"लीजिए भई जा...ा...न।" उसने आँखों में हँसते हुए कहा, "आप भी कहते होंगे कि साजो बाजी ने कभी कुछ खिलाया ही नहीं।"

भाई जान ने दो-तीन चमचे मुँह में ठूँसकर कहा, "ख़ुदा की क़सम, बहुत अच्छा बना है। किसने बनाया है यह?"

बाजी ने आपा की तरफ़ कनखियों से देखा और हँसते हुए कहा, "साजो बाजी ने और किसने, भई जा...ा...न के लिए।"

बद्दू ने आपा के मुँह की तरफ़ ग़ौर से देखा। आपा का मुँह लाल हो रहा था। बद्दू चिल्ला उठा, "मैं बताऊँ भाई जान।" आपा ने बढ़कर बद्दू के मुँह पर हाथ रख दिया और उसे गोद में उठा कर बाहर चली गयी। बाजी के ठहाकों से कमरा गूँज उठा और बद्दू की बात आयी-गयी हो गयी। भाई जान ने बाजी की तरफ़ देखा। फिर ख़ुदा जाने उन्हें क्या हुआ। उनका मुँह खुला-का-खुला रह गया और आँखें बाजी के चेहरे पर गड़ गयीं। जाने क्यों, मैंने यों महसूस किया जैसे कोई ज़बरदस्ती मुझे कमरे से बाहर घसीट रहा हो। मैं झट बाहर चली आयी। बाहर आपा अलगनी के पास खड़ी थी। अन्दर भाई साहब ने मद्धिम आवाज़ में कुछ कहा। आपा ने अपने कान से दुपट्टा सरका दिया। फिर बाजी की आवाज़ आयी, "छोड़िए, छोड़िए!" और फिर ख़ामोशी छा गयी।

अगले दिन हम आँगन में बैठे थे। उस वक्त भाई जान अपने कमरे में पढ़ रहे थे। बद्दू भी कहीं उधर ही खेल रहा था। बाजी रोज़ की तरह भाई जान के कमरे में चली गयी। कहने लगी, "आज एक दनदनाता बोर्ड कर दिखाऊँ। क्या राय है आपकी?" भाई जान बोले, "वाह, यहाँ से किक लगाऊँ तो ख़ुदा जाने कहाँ जा पड़ो।" शायद उन्होंने बाजी की तरफ़ ज़ोर से पैर चलाया होगा। वह बनावटी ग़ुस्से में चिल्लायी, "वाह, आप तो हमेशा पैर ही से छेड़ते रहते हैं...।" भाई जान एकदम बोल उठे, "तो क्या हाथ से...।" "...चुप, ख़ामोश!" बाजी चीख़ी। उसके भागने की आवाज़ आयी। एक मिनट तक तो पकड़-धकड़ सुनायी दी, फिर ख़ामोशी छा गयी।

इतने में कहीं से बद्दू भागता हुआ आया। कहने लगा, "आपा, अन्दर भाई जान बाजी से कुश्ती लड़ रहे हैं। चलो दिखाऊँ तुम्हें। चलो भी।" वह आपा का बाज़ू पकड़ कर घसीटने लगा। आपा का रंग हल्दी की तरह पीला हो रहा था और वह बुत बनी खड़ी थी। बद्दू ने आपा को छोड़ दिया। कहने लगा, "अम्माँ कहाँ हैं?" और वह कमरे में अम्माँ के पास जाने के लिए दौड़ा। आपा ने लपक कर उसे गोद में उठा लिया। कहने लगी, "आओ, तुम्हें मिठाई दूँ।" बद्दू चिमटने लगा तो आपा "आओ देखो तो कैसी अच्छी मिठाई है मेरे पास," कहती हुई उसे बावर्चीख़ाने में ले गयी।

उसी दिन शाम को मैंने अपनी किताबों की अलमारी खोली तो उसमें आपा की 'हार्ट ब्रेक हाउस' पड़ी थी। शायद आपा ने उसे वहाँ रख दिया हो। मैं हैरान हुई कि बात क्या है। पर आपा बावर्चीख़ाने में चुपचाप बैठी थी, जैसे कुछ हुआ ही न हो। उसके पीछे फ्रूट स्लाद की किश्ती ख़ाली पड़ी थी। हाँ, आपा के होंठ भिंचे हुए थे।

भाई तसद्दुक़ और बाजी की शादी के दो साल बाद हम पहली बार उनके घर गये। अब बाजी वह बाजी न रही थी। उसके वे क़हक़हे भी न थे उसका रंग ज़र्द था और माथे पर शिकन-सी पड़ी रहती थी। भाई साहब भी चुप-चुप रहते थे। एक शाम अम्माँ के अलावा हम सब बावर्चीख़ाने में बैठे

थे। भाई कहने लगे, "बद्दू, साजो बाजी से ब्याह करोगे?"

"उँह," बद्दू ने कहा, "हम ब्याह करेंगे ही नहीं।"

मैंने पूछा, "भाई जान, याद है जब बद्दू कहा करता था कि हम तो छाजो बाजी से बाह करेंगे। अम्माँ ने पूछा, 'आपा से क्यों नहीं?' तो कहने लगा, 'बताऊँ, आपा कैसी है?' फिर चूल्हे में एक जले हुए उपले की तरफ़ इशारा करके कहने लगा, 'ऐसी!' और जब इससे पूछा गया, 'और छाजो बाजी?' तो इसने बिजली के जलते हुए बल्ब की तरफ़ उँगली उठाकर कहा था, 'ऐसी!' "

और ठीक उसी वक्त बिजली बुझ गयी और बावर्चीख़ाने में आग की रोशनी के सिवा अँधेरा छा गया।

"हाँ, याद है!" भाई जान ने कहा। फिर जब बाजी किसी काम के लिए बाहर चली गयी तो भाई कहने लगे, "ख़ुदा जाने अब बिजली को क्या हो गया है, जलती-बुझती ही रहती है।"

आपा चुपचाप बैठी चूल्हे में राख से दबी हुई चिनगारियों को कुरेद रही थी। भाई जान ने दुखी-सी आवाज़ में कहा—"ओफ़, कितनी सर्दी है।" फिर उठकर आपा के निकट चूल्हे के सामने जा बैठे और उन सुलगते हुए उपलों से हाथ सेंकने लगे। बोले, "मुमानी सच कहती थीं कि इन जले हुए उपलों में आग दबी होती है। ऊपर से नहीं दिखायी देती। क्यों सजदे?" आपा परे सरकने लगी तो छन-सी आवाज़ आयी जैसे किसी दबी हुई चिनगारी पर पानी की बूँद पड़ी हो। मेरा ख़याल है, आपा का आँसू गिरा होगा। भाई जान मिन्नत-भरी आवाज़ में कहने लगे, "अब इस चिनगारी को तो न बुझाओ सजदे। देखो तो कितनी ठण्ड है।"

ग़ुलाम अब्बास

नाक काटने वाले

तीन आदमी चोग़े पहने, सिर पर आड़ी-तिरछी पगड़ियाँ बाँधे, नन्ही जान के कमरे में दाख़िल हुए और चाँदनी पर गाव-तकियों से लगकर बैठ गये।

"मिज़ाज तो अच्छे हैं सरकार!" रंग अली ने पूछा।

उन तीनों में से किसी ने उसकी मिज़ाजपुर्सी की रसीद न दी।

गुलाबी जाड़ों के दिन थे। बाहर हल्की-हल्की बूँदा-बाँदी हो रही थी। रात ख़ासी जा चुकी थी। एक मिनट तक ख़ामोशी रही, जिसके बीच में तीनों आदमी तेज़-तेज़ नज़रों से कमरे का निरीक्षण करते रहे। उस कमरे से मिला हुआ एक छोटा कमरा था, जो सोने के कमरे का काम देता था। उन्होंने अपने कीचड़-भरे चप्पल नहीं उतारे थे, जिसके कारण उजली चाँदनी पर धब्बे-ही-धब्बे पड़ गये थे।

"जब्बार ख़ाना!" उनमें से एक ने दूसरे से कहा, "इससे पूछो कि तुमारा रंडी लोग किदर है?"

"तुमारा रंडी लोग किदर है?" जब्बार ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

"बाहर गया है।" रंग अली ने कहा। जिस समय वे आये तो वह पान बना रहा था।

"बाहर किदर ?" जब्बार ख़ाँ ने पूछा।

"सिनेमा देखने। सिनेमा, बाइस्कोप।" रंग अली ने कहा।

"क्या कहता है ?" पहले आदमी ने जब्बार ख़ाँ से पूछा।

"कहता है, बाहर गया है। बाइस्कोप का तमाशा देखने।"

"ख़ो तमाशा देखने जाता है !" पहले आदमी ने कहा।

"बाई जी तो जाती भी नहीं थीं।" रंग अली बोला, "वह तो चिश्ती साहब ज़बरदस्ती ले गये।"

"क्या कहता है ?" पहले आदमी ने जब्बार ख़ाँ से पूछा।

"कहता है, चिश्ती साहब ज़बरदस्ती ले गया।"

"ख़ो चिश्ती के साथ जाता है।" पहले आदमी ने कहा। वह डील-डौल में अपने दोनों साथियों से कम था। पर उसके नख-शिख दोनों की अपेक्षा अधिक निर्मम थे। गले में काली धारियों वाले सुर्ख़ गुलूबंद के दो बल देकर उनके सिरे चोग़े के अन्दर कर रखे थे। उसके दाँत पीले-पीले थे। चौड़ा मुँह, बायें गाल पर आँख से ज़रा नीचे एक गहरे घाव का निशान था।

"ख़ो रण्डी-मुण्डी कोई नहीं तो इतना रोशनी किस वास्ते है ?" उसने रंग अली से पूछा। जब वह बात करता तो अपनी छोटी-छोटी आँखों को बात के बीच ही में आधी बन्द कर लेता।

रंग अली ने कोई जवाब न दिया।

"बोलो !" जब्बार ख़ाँ ने कहा, "हम तुम से क्या कहता है ?" उसका रंग साँवला था। उम्र में वह अपने दोनों साथियों से काफ़ी बड़ा था। उसके ऊपर के एक दाँत पर प्लेटिनम का ख़ोल चढ़ा था, जो काफ़ी घिस चुका था और हड्डी नज़र आने लगी थी।

रंग अली अब भी ख़ामोश रहा।

"हम इतना सीढ़ी किस वास्ते चढ़ के आया !" तीसरे आदमी ने पूछा। अपने दोनों साथियों की तरह उसने भी गले में गुलूबन्द लपेट रखा

था। उसका माथा तंग था और नाक पर एक बड़ा-सा मस्सा था। उसकी आँखों में सुर्ख़ी इस तरह नज़र आती थी, जैसे लहू की छींट पड़ गयी हो। उनमें से किसी की भी दाढ़ी हफ़्ते भर से कम की मुँडी हुई नहीं थी।

रंग अली बेवक़ूफ़ों की तरह एक-एक का मुँह ताक रहा था। उसकी समझ में न आता था कि क्या जवाब दे।

"ख़्वो तुमारा मुँह में ज़बान नहीं है?" तीसरे आदमी ने कहा। फिर वह पहले आदमी से कहने लगा, "सोहबत ख़ाँ, इसका मुँह में ज़बान नहीं है!"

"सरकार, क्या अर्ज़ करूँ," रंग अली ने कहा, "बाई जी तो जाती भी नहीं। वह..."

"जब्बार ख़ाँ।" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "इससे पूछो कब आयेगा?"

"तुमारा रंडी कब आयेगा?" जब्बार ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

"शो साढ़े बारह बजे ख़त्म होता है सरकार। बस कोई घण्टे-पौन-घण्टे तक आ जायेगा।"

"क्या कहता है?" सोहबत ख़ाँ ने जब्बार ख़ाँ से पूछा।

"कहता है, तीन पाव घण्टे में आ जायेगा।"

"चिश्ती साहब कई दिनों से सिर हो रहे थे।" रंग अली बोला, "बाई जी हर बार नहीं नहीं करती रहीं। आज तो बहुत ही सिर हुए। कहने लगे फ़िल्म एक नम्बर है। बड़ी मुश्किलों से सीटें रिज़र्व करवाई हैं। क़समें देने लगे..."

ठीक उस वक़्त सीढ़ियों में कुछ आहट हुई। तीनों आदमी चौकन्ने होकर एक-दूसरे की तरफ़ देखने लगे।

"जब्बार ख़ाँ।" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "इस पिदरे-सग (कुत्ते के बच्चे) को कहो, चुप हो जाओ!"

"चुप हो जाओ!"

कुछ क्षण ख़ामोशी में गुज़रे। फिर हुसैन बख़्श धुस्से की बुक्कल मारे बागेश्वरी की धुन गुनगुनाता चौखट पर दिखायी दिया। इन तीनों को देखकर

वह ठिठका, फिर जूता उतारकर कमरे में दाख़िल हुआ और उनसे ज़रा हटकर चाँदनी के एक सिरे पर, जहाँ सारंगी ग़िलाफ़ में लिपटी रखी थी, बैठ गया।

"सलाम सरकार।" हुसैन बख़्श ने कहा।

"यह कौन है?" सोहबत ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

"ये हुसैन बख़्श हैं।"

"क्या करता है?"

"ये सारंगिये हैं।"

"सारंगिये क्या?"

"सारंगी बजाते हैं। सारंगी, जो साज़ है।"

"ख़ो तो साज़िन्दा क्यों नहीं कहता?"

"हाँ हाँ, वही।"

"और तुम ख़ुद क्या करता है?" जब्बार ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

"मैं तबला बजाता हूँ।" रंग अली ने कहा'

"ख़ो तो तुम भी साज़िन्दा है?"

"जी हाँ।"

क्षण भर ख़ामोशी रही।

"जब्बार ख़ाँ!" सोहबत ख़ाँ ने जब्बार ख़ाँ से कहा, "पूछो इदर कौन-कौन रहता है?"

"बाई जी, हम दो उस्ताद और एक नौकर जुम्मन।" रंग अली ने जवाब दिया।

"ख़ो नौकर किदर है?" सोहबत ख़ाँ ने पूछा।

"बाई जी के साथ गया है।" रंग अली ने जवाब दिया।

"हूँ-हूँ!"

बाहर बूँदियाँ किसी क़दर तेज़ी से पड़ने लगी थीं। नीचे सड़क पर से थोड़ी देर के बाद ताँगे के घोड़े की टाप, जिसमें घण्टियों के सुर भी शामिल होते, सुनायी दे जाती। गीली सड़क पर घोड़े का सुम पड़ता तो बड़ी पाटदार

आवाज़ निकलती।

"तुमने बोला—नन्ही जान तीन पाव घण्टे में आयेगा?" सोहबत ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

हुसैन बख़्श ऊबा हुआ बैठा था। उसने जवाब देना चाहा, "क्या पता..."

"तुम मत बको।" सोहबत ख़ाँ ने कर्कश स्वर में कहा। फिर वह रंग अली से बोला, "तुम्हारा बाई तीन पाव घण्टे में आ जायेगा?"

"आ तो जाना चाहिए!" रंग अली ने कहा।

"चाहिए नहीं जानता।" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "हाँ कहो या न।"

"देखिए सरकार।" रंग अली ने कहा, "तमाशा साढ़े बारह बजे ख़त्म होता है, और इस वक़्त हुए हैं ग्यारह बजकर पचास मिनट। अगर बाई जी सीधी घर को आयीं...।"

"अगर मगर नहीं जानता।" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "साफ़ बोलो।"

"आख़िर बात क्या है ख़ान साहब?" हुसैन बख़्श से चुप न रहा गया, "कुछ हमें भी तो पता चले।"

इसके जवाब में तीसरे आदमी ने यकायक आगे बढ़कर ज़ोर का एक मुक्का उसके मुँह पर मारा। इस अचानक चोट पर हुसैन बख़्श की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। आँसू उसकी आँखों में झलकने लगे। उसने सिर झुका लिया। थोड़ी देर तक गुम-सुम बैठा रहा। फिर उठकर चौखट की ओर जाने लगा, जहाँ उसका जूता पड़ा था।

"ओ ख़िंज़ीर!"* जब्बार ख़ाँ ने कहा, "ठहरो, किदर जाता है?"

हुसैन बख़्श ने एक पाँव जूते में डाल लिया था। वह ठहर गया।

"इदर देखो।" जब्बार ख़ाँ ने डपट कर कहा। उसके हाथ में एक कमानीदार चाक़ू था, जिसका फल आठ इंच से कम लम्बा न था। बिजली की रोशनी में उससे किरणों-सी निकल रही थीं। "अगर तुम नीचे जाने की कोशिश करेगा तो हम तुम्हारा पेट चाक कर देगा। सुन लिया? दरवाज़े में

*सुअर

कुण्डी लगाओ और इदर हमारे पास आकर बैठो।"

हुसैन बख्श क्षण भर खड़ा रहा। फिर उसने जूते से पाँव निकाल लिया और दरवाज़े में कुण्डी लगाकर अपनी जगह पर आ बैठा।

"शाबाश, शाबाश!" सोहबत ख़ाँ ने कहा। फिर वह तीसरे आदमी से कहने लगा, "गुलबाज़ ख़ाँ! यार तुमने तानसेन के बेटे को नाराज़ कर दिया। अब वह हमको गाना नहीं सुनायेगा।"

"हम उसको मनायेगा।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा, "हम उसके गुदगुद करेगा। तानसेन का बेटा हँसेगा। तानसेन का बेटा फिर क़व्वाली सुनायेगा।"

"जब्बार ख़ाँ!" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "इससे बोलो हम गाना सुनने नहीं आया।"

"फिर कैसे आना हुआ सरकार?" रंग अल ने पूछा।

"क्या कहता है?" सोहबत ख़ाँ ने जब्बार ख़ाँ से पूछा।

"पूछता है हम क्यों आया?" जब्बार ख़ाँ ने कहा।

"ख़ो पूछता है हम क्यों आया?" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "इससे पूछो हम क्यों आया?"

"ख़ो तुम बताओ, हम क्यों आया?" जब्बार ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

रंग अली मुस्कराने की कोशिश करने लगा।

"क्या कहता है?" सोहबत ख़ाँ ने जब्बार ख़ाँ से पूछा।

"कुछ नहीं कहता।" जब्बार ख़ाँ ने कहा।

"कुछ नहीं कहता?"

"मुस्कराता है।"

"मुस्कराता है?" सोहबत ख़ाँ ने रंग अली से कहा, "ख़ो तुम मुस्कराता है! मसख़री करता है!"

"ख़ान साहब भी कमाल करते हैं।" रंग अली ने कहा, "मेरी मजाल है कि मैं आपसे मसख़री करूँ!"

"ख़ो तुम अच्छा आदमी है।" सोहबत ख़ाँ ने कहा।

"तानसेन का बेटा अच्छा आदमी नहीं है।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा, "वह

रोत हैं। तानसेन का बेटा रोता है।"

क्लाक में घर्र-घर्र हुई और उसने टन-टन करके बारह बजाना शुरू किया। हुसैन बख़्श के सिवा सब की नज़रें उसकी तरफ़ उठ गयी थीं। क्लाक से ज़रा हटकर दीवार पर एक बड़ा-सा रंगदार फ़ोटो था, जिसमें चौथाई सदी पहले की कोई अधेड़ उम्र की गाने वाली, गले में अशरफ़ियों का हार डाले तम्बूरा छेड़ रही थी। नाक पर बड़ी-सी लौंग थी और सीधी माँग निकाल कर जूड़ा बाँध रखा था।

"ख़ो देखो।" सोहबत ख़ाँ ने रंग अली से कहा, "इदर क़लियाँ मलियाँ भी है?"

"क़लियाँ तो नहीं, हुक़्क़ा है सरकार!" रंग अली ने कहा।

"हम हुक़्क़ा नहीं पियेगा।"

"पान पश करूँ?"

"हम पान नहीं खाता।"

"सिगरेट?"

"सिगरेट? ख़ैर चरस का सिगरेट का मुज़ायक़ा नहीं।"

"चरस तो यहाँ कोई भी नहीं पीता सरकार!" रंग अली ने कहा।

"रण्डी-मुण्डी नहीं, क़लियाँ मलियाँ नहीं, चरस नहीं। यह तुम्हारा कैसा तवायफ़ का मकान है?" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा।

"अच्छा रोग़न कद्दू (कद्दू का तेल) है?" सोहबत ख़ाँ ने पूछा।

"रोग़न कद्दू तो नहीं," रंग अली ने कहा, "आँवले का तेल होगा?"

"ख़ैर, वही लाओ।" सोहबत ख़ाँ ने कहा।

रंग अली एक आलमारी के पास गया, जिसके दोनों पटों के चौखटों में दो लम्बे आइने जड़े हुए थे और अलमारी खोलकर तेल की बोतल ले आया।

"देखो, तुम बहुत अच्छा आदमी है।" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "थोड़ा तेल हमारे सिर पर मलो। फिर हम तुमको बतायेगा, हम किस वास्ते आया?"

यह कहकर उसने अपनी पगड़ी उतार दी। मालूम होता था, वह पगड़ी

बहुत देर से उसके सिर पर थी, क्योंकि क़ुलाह ने उसके माथे पर गहरा निशान बना दिया था। उसके सिर पर बाल सिर्फ़ किनारे-किनारे थे। बीच में चाँद बिलकुल अंगूर बने फोड़े की ऐसी लग रही थी।

रंग अली उसकी पीठ के पीछे जाकर खड़ा हो गया। थोड़ा-सा तेल हथेली पर डाला और सिर पर मलने लगा।

"शाबाश, शाबाश!" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "अब हम तुमको बताता है कि हम क्यों आया।" पर वह आगे कहते-कहते रुक गया और गुलबाज़ ख़ाँ से मुख़ातिब होकर कहने लगा, "गुलबाज़ ख़ाँ! ख़ो तुम बताओ यार, हम तेल मलवाता है।"

"हम बतायेगा।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा, "मगर पहले तानसेन का बेटा हमारा टाँग दबाये।"

"तानसेन का बेटा!" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "गुलबाज़ ख़ाँ का टाँग दबाओ।"

हुसैन बख़्श पूर्ववत सिर झुकाये बैठा रहा। वह सख़्त कोशिश कर रहा था कि उनकी तरफ़ न देखे।

"तानसेन का बेटा हमारा टाँग नहीं दबाता!" गुलबाज़ ख़ाँ ने, जैसे फ़रियाद के स्वर में कहा!

"उसके एक धप लगाओ।" सोहबत ख़ाँ ने कहा।

"हम धप नहीं लगायेगा।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा, "हम इसका कान मरोड़ेगा। तानसेन का बेटा! अपना कान इदर करो।" उसने हुसैन बख़्श से कहा।

"हुज़ूर, माफ़ कर दीजिए।" रंग अली ने गिड़गिड़ा कर कहा। फिर वह हुसैन बख़्श से कहने लगा, "भाई हुसैन बख़्श! ज़िद न करो। उठ बैठो और ख़ान साहब की टाँग दबा दो। उठो, उठो, बच्चे न बनो। मौक़ा-महल देखा करो।"

हुसैन बख़्श बड़ी लाचारी के साथ उठा और गुलबाज़ ख़ाँ के पास बैठ-कर उसकी टाँग दबाने लगा। आँसू अभी उसकी आँखों में सूख नहीं पाये थे।

"हा-हा !" गुलबाज़ ख़ाँ ने हुसैन बख़्श की पीठ पर ज़ोर से थपकी देकर कहा, "तानसेन का बेटा अब अच्छा हो गया। अब हम बतायेगा, हम क्यों आया ?"

कुछ क्षण ख़ामोशी रही।

"तुम्हारा नन्ही जान है न ?" गुलबाज़ ख़ाँ ने रंग अली से पूछा।

"हाँ सरकार !" रंग अली ने कहा।

"तो बस, हम उसका नाक काटने आया है !" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा।

"उस बेचारी का क़सूर ?" रंग अली ने पूछा। मालिश करते-करते उसके हाथ थम गये थे, चेहरा पीला पड़ गया था और आवाज़ गले में अटक-अटक गयी थी।

"क़सूर-वसूर कुछ नहीं।" सोहबत ख़ाँ ने कहा, "तुम अपना काम करो।"

"फिर क्या बात है सरकार ?" रंग अली ने गुलबाज़ ख़ाँ से पूछा।

"हमने सुना उसका नाक बहुत लम्बा है।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा, "अच्छा नहीं लगता। छोटा होने से ख़ुश-रू हो जायगा।"

"ख़ुदा के वास्ते ख़ान साहब।" रंग अली ने गिड़गिड़ा कर कहा, "ऐसा ग़ज़ब न कीजिएगा। वह बेचारी तो बहुत शरीफ़ है।"

"जभी तो हम उसको ख़ुश-रू बनायेगा। "गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा।

"हम बौत (बहुत) को ख़ुश-रू बना चुका है।" जब्बार ख़ाँ ने कहा।

घड़ी में बारह बजकर पैंतीस मिनट हुए थे कि सीढ़ियों में कई क़दमों की आहट सुनायी पड़ी। तीनों आदमियों ने भेदभरी नज़रों से एक-दूसरे की तरफ़ देखा और उठकर खड़े हो गये।

रंग अली सोहबत ख़ाँ के पैरों पर गिर पड़ा।

"रसूल के वास्ते ख़ान साहब।" उसने बिसूरते हुए कहा, "हम पर रहम कीजिए। हम बहुत मिस्कीन लोग हैं।"

दरवाज़ा खटखटाया गया। गुलबाज़ ख़ाँ ने रंग अली की कलाई मज़बूती से पकड़ कर उसे उठाया और दरवाज़े के पास ले गया। फिर उसे दरवाज़े

के सामने खड़ा करके स्वयं उसके पीछे खड़ा हो गया।

"पूछो कौन है?" गुलबाज़ ख़ाँ ने रंग अली के कान में कहा।

"कौन है?" रंग अली ने पूछा।

"दरवाज़ा खोलो। दरवाज़ा खोलो।" कई आवाज़ें सुनायी दीं।

"नाम पूछो।" गुलबाज ख़ाँ ने रंग अली के कान में कहा।

"अरे भई मैं हूँ सलीमुल्लाह।" दरवाज़े के उस तरफ़ से आवाज़ आयी, "जल्दी खोलो दरवाज़ा।"

"पूछो, आपके साथ कौन है?" गुलबाज ख़ाँ ने रंग अली के कान में कहा।

"अच्छा शेख़ साहब हैं!" रंग अली ने कहा, "आपके साथ और कौन लोग हैं शेख़ साहब?"

"मेरे दोस्त हैं भई।" दरवाज़े के उस तरफ़ से आवाज़ आयी। "आख़िर तुम दरवाज़ा क्यों नहीं खोलते?"

रंग अली ने पलट कर गुलबाज़ ख़ाँ की तरफ़ देखा, जिसने सिर हिला-कर नहीं का इशारा किया।

"शेख़ साहब, माफ़ कीजिएगा।" रंग अली ने कहा, "इस वक़्त दरवाज़ा नहीं खुल सकता। बाई जी मुजरे गयी हैं। सुबह को आयेंगी। इस वक्त ख़ाँ साहब वज़ीर ख़ाँ के यहाँ से कुछ बहुएँ आयी हुई हैं। उनकी वजह से दरवाज़ा नहीं खुल सकता। आपको तकलीफ़ तो हुई, मगर मजबूरी है। आप कल तशरीफ़ लाइएगा।"

इस पर सीढ़ियों में कुछ देर खुसर-फुसर होती रही। फिर उतरते हुए क़दमों की आवाज़ें सुनायी पड़ीं, जो धीरे-धीरे धीमी होती हुई गुम हो गयीं।

"शाबाश!" सोहबत ख़ाँ ने गाव-तकिये से लग कर बैठते हुए कहा, "तुम बौत अक़्लमन्द आदमी है।"

"अक़्लमन्द इसने बनाया।" गुलबाज़ ख़ाँ ने चाक़ू दिखाते हुए कहा, "अगर पिदरे-सग ज़रा भी चूँ करता तो हम इसका नोक पीठ में उतार देता।"

एक बज गया पर नन्ही जान नहीं आयी। तीनों आदमियों ने जमुहाइयाँ लेनी शुरू कर दीं। जब्बार ख़ाँ ने चोग़े की जेब में से निसवार की डिबिया निकाली, जिसमें से चुटकी-चुटकी तीनों ने ली।

सवा बजे सोहबत ख़ाँ ने रंग अली को गले से पकड़ लिया।

"ओ ख़िंज़ीर बच्चा, सच बता।" सोहबत ख़ाँ ने पूछा, "वह तमाशे गया है या और जगह गया है?"

"क़सम है पंजतन पाक की ख़ान साहब।" रंग अली ने अपना गला छुड़ाने की कोशिश करते हुए कहा, "वो तमाशे ही गयी हैं।"

"फिर वह आया क्यों नहीं?" सोहबत ख़ाँ ने पूछा।

"अल्लाह जाने क्यों नहीं आयीं।" रंग अली ने कहा। फिर वह कुछ क्षण ख़ामोश रहकर बोला, "मैं जानूँ चिश्ती साहब उनको अपनी कोठी में ले गये होंगे। अब तो वो सुबह ही को आयेंगी।"

"तुम झूठ कहता है।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा।

"नहीं, मैं सच कहता हूँ।" रंग अली ने कहा।

"हम नहीं मानता।" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा।

"आप यहीं रहए। फिर झूठ-सच मालूम हो जायगा।" रंग अली ने कहा।

"पहले भी कभी ऐसा हुआ?" सोहबत ख़ाँ ने पूछा।

"कई बार।" रंग अली ने कहा।

डेढ़ बजे तीनों ने एक-दूसरे की तरफ़ देखा। जमुहाइयाँ लेते-लेते उनके जबड़े थक गये थे, और आँख और नाक से पानी बहने लगा था। बाहर बूँदियाँ थम गयी थीं। तीनों में आँखों-आँखों में कुछ इशारे हुए, फिर वे उठकर खड़े हो गये।

"अच्छा हम जाता है।" सोहबत ख़ाँ ने कहा।

जिस वक़्त वे देहलीज़ के पास पहुँचे तो सोहबत ख़ाँ ने रंग अली से कहा, "बख़ुदा तुम्हारा नन्ही जान का क़िस्मत बौत अच्छा है। अच्छा सलाम।"

"तानसेन के बेटे को भी सलाम !" गुलबाज़ ख़ाँ ने कहा और वे सीढ़ियों से उतर गये।

कुछ क्षण ख़ामोशी रही।

"या ख़ुदा, यह क्या मुसीबत है?" रंग अली ने कहा।

"ऐसे काम की ऐसी-तैसी।" हुसैन बख़्श ने कहा, "लानत है ऐसी कमाई पर। मैं तो कल ही यहाँ से चल दूँगा। किसी फ़िल्म कम्पनी या रेडियो में नौकरी कर लूँगा। और जो नौकरी न मिली तो ट्युशन करूँगा। भीख माँग लूँगा, मगर इस कूचे का नाम नहीं लूँगा।"

रंग अली ने कोई जवाब न दिया।

ठीक दो बजे मकान के नीचे एक मोटर आकर रुकी, और फिर मोटर का दरवाज़ा ज़ोर से बन्द होने की आवाज़ आयी। ज़रा-सी देर में नन्ही जान ठुमक-ठुमक करती सीढ़ियाँ चढ़ती कमरे में दाख़िल हुई। उसके पीछे-पीछे जुम्मन था, जिसने एक डिब्बा उठा रखा था।

नन्ही जान ने साड़ी के ऊपर लम्बा कोट पहन रखा था जिसका कॉलर और कफ़ लोमड़ी की खाल के थे। पाँव में सुर्ख़ साड़ी से मैच करते हुए सुर्ख़ सैंडिल थे। आधे सिर और कानों को एक सफ़ेद बारीक सिल्क के मफ़लर से ढाँक रखा था जिसमें से सिर्फ़ कान की लवें नज़र आती थीं। उन लवों में रुपहले टॉप्स दो नन्हे-नन्हे पूरे चाँदों की तरह दमक रहे थे। उसके गालों पर पौडर सुर्ख़ धूल की तरह मालूम होता था। उसके जिस्म और लिबास से ख़ुशबूएँ फूट रही थीं। उसकी उम्र बाईस-तेईस बरस से ज़्यादह न थी। चाल-ढाल से वह एक अल्हड़ हसीना मालूम होती थी—आँखों से मुस्कराने वाली, गहरी-गहरी साँस लेने वाली।

रंग अली और हुसैन बख़्श की नज़रें सब से पहले अनायास उसकी नाक पर पड़ीं, जिसमें सुर्ख़ नगीने वाली एक कील चमक रही थी।

"शुक्र है, आप ख़ैरियत से घर पहुँचीं।" रंग अली ने कहा।

"सिनेमा के बाद कमबख़्त चिश्ती ज़बरदस्ती होटल ले गया।" नन्ही जान ने कहा।

"बहुत अच्छा हुआ।" रंग अली ने कहा।

"तुम लोग इतने परेशान क्यों हो?" नन्ही जान ने पूछा।

"बाई जी।" हुसैन बख़्श ने कहा, "मुझे तो आप छुट्टी ही दे दीजिए।"

"आख़िर हुआ क्या?"

"आप घर पर होतीं तो क़यामत ही आ जाती।" रंग अली ने कहा।

"कुछ कहो तो आख़िर क्या हुआ?"

"आपके पीछे तीन पठान आये थे।" रंग अली ने कहा, "बड़े वहशी-से, उनके पास लम्बे-लम्बे चाक़ू थे। हमें मारा-पीटा, गालियाँ दीं। बात-बात पर चाक़ू निकालते थे। कहते थे...।"

"क्या कहते थे?" नन्ही जान ने पूछा।

"कहते थे, उनके मुँह में ख़ाक, हम नन्हीं जान का नाक काटने आया है।"

क्षण भर के लिए नन्ही जान के चेहरे की रंगत की ऐसी कैफ़ियत हुई, जैसे कोई बल्ब फ़्यूज़ होते-होते दोबारा रोशन हो जाय। फिर उसने निगाहें अपनी उँगलियों के सुर्ख़ रँगे हुए नाख़ूनों पर गाड़ दीं।

"मैंने कहा भी," रंग अली ने कहा, "बाई जी रात को वापस नहीं आयेंगी, फिर भी उन्होंने डेढ़ बजे तक हिलने का नाम नहीं लिया।"

"मेरे मुँह पर इस ज़ोर का थप्पड़ मारा कि दो दाँत हिल गये।" हुसैन बख़्श ने विसूरते हुए कहा।

नन्ही जान ने कुछ जवाब न दिया।

"आख़िर अब क्या होगा?" रंग अली ने पूछा।

"जाने क्या होगा!" नन्हीं जान ने कहा।

"थाने में रपट न लिखवा दें?"

"कुछ फ़ायदा नहीं। उल्टी बदनामी होगी। फिर पुलिस वालों के नाज़ मुफ़्त के।"

"कहीं और न चल दें?"

"कहाँ?"

"किसी और शहर !"

"कुछ फ़ायदा नहीं। सब जगह ऐसा ही हाल है।"

"आख़िर फिर क्या करें ?"

"क्या हो सकता है ?"

"कुछ नहीं हो सकता ?"

"कुछ नहीं हो सकता !"

पल भर ख़ामोशी रही। इसके बाद नन्हीं जान ने अँगड़ाई ली। उसके होंठों पर एक थकी-थकी-सी उदास मुस्कराहट उभरी।

"ख़लीफ़ा जी !" उसने रंग अली से कहा, "इस वक़्त तो तुम लोग आराम करो। सुबह देखा जायगा।"

यह कहकर वह अपने सोने के कमरे में चली गयी और अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर लिया।

पाँच मिनट के बाद सब किवाड़ बन्द कर दिये गये थे और बत्तियाँ बुझा दी गयी थीं। दोनों उस्ताद और जुम्मन फ़र्श पर पास-पास बिस्तर बिछा कर लेट गये थे।

"ये पठान ज़रूर किसी के भेजे हुए थे।" रंग अली ने हुसैन बख़्श से कहा।

"मगर किसके ?" हुसैन बख़्श ने पूछा।...क्षण भर ख़ामोशी रही।

"हो न हो यह चक्कर वाले हाजी की कारस्तानी है।" रंग अली ने कहा, "वह बुड्ढा निकाह के लिए बाई जी के पीछे पड़ा हुआ था।"

"हूँ !" हुसैन बख़्श ने क्षीण स्वर में जवाब दिया।

क्षण भर को फिर ख़ामोशी रही।

"या शायद यह नवाब साहब की बदमाशी है।" रंग अली ने कहा, "उनको यह चिढ़ थी कि ज़फ़र साहब क्यों आते हैं ?"

"हूँ।" हुसैन बख़्श ने पहले से भी क्षीण स्वर में जवाब दिया।

कुछ क्षण ख़ामोशी रही।

"फिर ख़याल आता है," रंग अली ने कहा, "कहीं यह उस फ़ैज़ाबाद

के कँगले ताल्लुक़ेदार की शरारत न हो, जिसको बाई जी ने बेइज़्ज़त करके कोठे से उतरवा दिया था।"

हुसैन बख़्श ने कोई जवाब न दिया। उसने मुँह धुस्से के अन्दर कर लिया था और लम्बी-लम्बी साँसें, जो अभी ख़र्राटे नहीं बनी थीं, लेनी शुरू कर दी थीं। पर रंग अली की आवाज़ बराबर सुनायी दे रही थी।

"मैं जानूँ यह राव साहब का किया-धरा है। वह काना मारवाड़ी, जो बाई जी को बनारस ले जाना चाहता थ..."
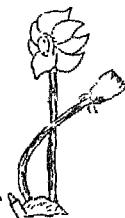
बलवन्त सिंह

●●●

ग्रन्थी

"सतनाम !" यह शब्द सदा की तरह ग्रन्थी के मुँह से निकला और उसके क़दम रुक गये।

"ग्रन्थी जी ! सौ बार कहा है कि यों दनदनाते हुए न बढ़े आया करो। ज़रा परे खड़े रहा करो। किस वक्त आदमी न मालूम कैसी हालत में होता है...।" नल के समीप बैठी हुई औरत ने शलवार के पाँयचे को खिसका कर अपनी पिंडली ढाँप ली और एड़ियाँ रगड़ने लगी। ग्रन्थी कब का पीछे हट चुका था। औरत ने मुफ़्त में रामायण छेड़ दी। ग्रन्थी का मुँह ऊपर को उठा हुआ था। मुँह ऊपर उठाये रखने की उसे आदत-सी हो गयी थी।

यह 'सौ बार' की भी खूब रही। कही तो यह बात उसको पहले भी कई बार गयी थी, पर यदि बाहर खड़े रहने पर उसकी धीमी आवाज़ सुन ली जाय तो वह क्यों इस तरह दनदनाता हुआ अन्दर आया करे। उसकी आवाज़ अच्छी ख़ासी थी, लेकिन ज़ोर से आवाज़ देने पर भी उसे टोका गया था—'यह क्या बदतमीज़ी है। इस क़दर गला फाड़ने की क्या ज़रूरत है?' अब

अगर वह उसकी मन-पसन्द आवाज़ में, बड़े संगीत-पूर्ण ढंग से, सुबह से शाम तक खड़ा-खड़ा—'सतनाम, सतनाम' कहता रहे तो कोई उसकी आवाज़ न सुन पाये और न उसको रोटी दे ! गुरुद्वारे के मुसाफ़िर भी एक मुसीबत ही थे। न वे रोज़-रोज़ आयें, न उसको रोटियाँ माँगनी पड़ें ! अपने लिए तो वह कभी रोटियाँ माँगने न आये...। एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर पाँव धोने वाली की सूरत तो देखो ! यह तो ख़ैर, उस आफ़त की परकाला की सूरत ही देखने योग्य थी, जिसने उस पर बदनीयती का आरोप लगाया था, लेकिन सबसे मोटी बात जो उसके बारे में कही जा सकती थी, वह यह थी कि उसने अमुक औरत की ओर कुदृष्टि से ताका। और यही अभियोग उस पर लगा कर वह तूमार बाँधा गाया कि बस !...

तभी फ़तह सिंह चौकीदार ने आँगन में प्रवेश किया।

औरत ने स्वच्छन्दता से कहा—"आ फ़त्तिया ! क्या बात है?" चौकीदार फ़त्ती ने ग्रन्थी की ओर चुभती हुई नज़रों से देखा, "क्या सरदार जी घर पर नहीं हैं ? वे आयें तो कहना कि रात को कुएँ पर आ जायें।" लस्सी का कटोरा देने पर वह उसे एक ही साँस में चढ़ा गया। फिर ग्रन्थी के कन्धे से कन्धा भिड़ा कर बाहर निकल गया।...औरत की भृकुटी चढ़ गयी।

ग्रन्थी इन सब बातों का मतलब समझता था...। आज उसको एक अघटित अपराध की सज़ा मिलने वाली थी।

उस रात गाँव के बड़े कुएँ पर गाँव भर के प्रमुख लोग जमा हुए। ग्रन्थी पर जिरह-बहस की गयी और अगर कोई बात उसके पक्ष में निकलती तो वे झल्ला उठते। सब लोग उससे ख़फ़ा थे। किसी की असली शिकायत यह थी कि वह उनके घर वालों को प्रसाद हमेशा कम दिया करता था; किसी के घर में जाकर उसकी पत्नी ने काम करने से इन्कार कर दिया था; किसी के बच्चों को उसने गुरुद्वारे की फुलवाड़ी उजाड़ने से मना किया था। लेकिन उस पर अभियोग यह लगाया गया था कि लाजो एक दिन गुरुद्वारे में माथा टेकने के लिए गयी तो उसने उसका हाथ पकड़ लिया। लाजो को अच्छा नहीं समझा

जाता था। उसका पति मर गया था। अब वह अपने तीन भाइयों के साथ रहती थी। तीनों भाई बेकार थे। जो भी काम हाथ लगता, कर लेते। एक भाई ने पंसारी की दुकान खोल रखी थी। कभी वे जलेबियाँ बनाते, कभी ताँगा तैयार करते, हाथ लगने पर अच्छे पैमाने पर चोरियाँ भी करते और कभी किसी सवार की घोड़ी छीन लेते।

"क्यों लाजो! क्या यह बात सही है कि ग्रन्थी ने तुम्हारा हाथ पकड़ा?"

लाजो ने बड़े विस्तार के साथ बताया कि किस तरह ग्रन्थी ने उसका हाथ पकड़ा और फिर किस तरह उसने उसको गले लगाने की कोशिश की।

"ग्रन्थ जी, तुमको कुछ कहना है?"

"मैंने इसका हाथ नहीं पकड़ा।"

लाजो चमक कर कुछ कहने वाली थी कि उसको रोक दिया गया। "तो ग्रन्थी जी, आज तुमने लाजो का हाथ पकड़ा, कल किसी और का आँचल खींचोगे। गाँव की बहू-बेटियों की इज़्ज़त तुम्हारे हाथों सुरक्षित नहीं।"

"मैंने इसका हाथ नहीं पकड़ा..."

"तुमने काम तो वह किया है कि तुम को...ख़ैर, कल संक्रान्ति का काम भुगता कर परसों यहाँ से चले जाओ!"

ग्रन्थी वापस आकर बिस्तर पर लेट गया। नींद न आती थी। कितने ही दिनों ठोकरें खाते रहने के बाद वह इस गुरुद्वारे का ग्रन्थी हुआ था। यहाँ उसे हर प्रकार का सुभीता था। एक ओर ऐतिहासिक इमारत थी, दूसरी ओर कई इमारतें बन रही थीं। चक नम्बर ३५ और चक नम्बर ३६ का यह संयुक्त गुरुद्वारा था। दोनों गाँव एक-दूसरे के बिलकुल निकट होने के कारण अलग गुरुद्वारे की ज़रूरत महसूस न होती थी। फलस्वरूप चढ़ावा भी ज़्यादा चढ़ता था।

थोड़ी देर तक उसकी पत्नी उसके समीप बैठी रही। वह उदास थी। लेकिन उसको अपने पति पर भरोसा था। वह जानती थी कि उसके पति पर जो अभियोग लगाया गया था, वह सरासर झूठा था। वे दोनों इस विपत्ति का मूल कारण भी जानते थे। लेकिन लाचार थे। अगर इस जगह रहने का

मतलब यह था कि बात-बात पर बेइज़्ज़ती सही जाय, उसकी पत्नी दूसरे के घरों में जाकर न केवल सेवा-टहल करे, बल्कि उन की खुशामद भी करे तो इससे अच्छा यही था कि वे इस गुलामी से मुक्त होकर अपने गाँव चले जायें...। लेकिन वह इसके बाद क्या करेगा, यह बात उसकी समझ में न आती थी।

गर्मियों की चाँदनी रात में वह खुले आकाश के नीचे चारपाई पर लेटा सही अर्थों में तारे गिन रहा था। उसने तारों की ओर कभी ध्यान ही न दिया था, लेकिन तारों की दुनिया भी कितनी सुन्दर और अनोखी थी! दूर तक फैले हुए अगणित तारों को आकाश-गंगा कहा जाता है। मरने के बाद मनुष्य की आत्मा आकाश-गंगा से होकर जाती है। न जाने वह रास्ता कैसा होगा? कैसी जगह होगी? पेड़ होंगे या रेत के टीले? जब आत्मा थक जाती होगी तो उसको विश्राम की अनुमति मिलती भी होगी या नहीं? उस रास्ते का आख़िर कहाँ अन्त होता होगा?

उसकी आँख लग गयी। जब जागा तो तारे झिलमिला रहे थे और हवा में ठण्डक थी। बाड़े में बूढ़ा बैल सींग हिला रहा था और उसके गले में पड़ी हुई घण्टियाँ बज रही थीं। गुरुद्वारे के अन्दर उसके छोटे-से घर के आँगन में उसकी पत्नी दही बिलो रही थी। दही बिलोने का स्वर इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि अब सुबह होने वाली थी।

वह उठा। लाठी उठाकर वह बबूल के पेड़ की ओर चला गया। एक कोमल-सी डाल काटकर उसने तीन दातुनें बनायीं—अपने लिए, अपनी बीवी के लिए और अपनी नौ-वर्षीया बच्ची के लिए। एक झाड़न कन्धे पर डाले वह खेतों में से होता हुआ बाड़े में वापस आया और बैल की रस्सी खोल कर रहट की ओर बढ़ा।

पुरानी चाल का वह रहट ज़मीन से बहुत ऊँचा था। एक ऊँचा, गोल चबूतरा, जहाँ से गोबर मिली मिट्टी नीचे गिरती रहती थी। चबूतरे की दोनों ओर गारे की बेडौल-सी टेढ़ी-मेढ़ी दो दीवारें खड़ी थीं। उन पर दरख़्त काट कर एक लम्बा-सा लट्ठा टिका दिया गया था। उसके बीचोंबीच चर्ख़ी

की लकड़ी घुसी हुई थी। पास ही दूसरी चर्ख़ी उसमें दाँत जमाये खड़ी थी। निचली चर्ख़ी के पास लकड़ी का कुत्ता था, जो उसको पीछे की ओर घूमने से रोकता था। जब बैल को जोत दिया गया और चर्ख़ियाँ घूमने लगीं तो कुत्ता कट-कट बोलने लगा। कुएँ वाली बड़ी चर्ख़ी भी घूमी। रस्सियों से बँधी हुई टिंडें (मिट्टी की छोटी-छोटी हाँडियाँ) पानी की ओर लपकीं। जो टिंडें रात की भरी बैठी थीं, उन्होंने पानी उँडेल दिया। झाल में से पानी की धार तेज़ी से निकली। कुआँ अजीब स्वर में रूँ-रूँ की आवाज़ निकालने लगा। कभी ऐसा जान पड़ता, जैसे गा रहा हो, कभी रोने की आवाज़ निकलने लगती और कभी उसमें से हृदय-विदारक आर्त्तनाद-सा पैदा होता...। अँधेरे में इन अजीब आवाज़ों के कारण ये छोटी-बड़ी घूमती हुई चर्ख़ियाँ ऐसे दिखायी देतीं, मानो कोई अनोखा जानवर रेंक रहा हो!

उस निस्तब्ध वातावरण में अचानक सजीवता की लहर दौड़ गयी। इधर-उधर से दो-चार कुत्ते भूँकने लगे।

ग्रन्थी ने झाल की तरफ़ तख़्ता लगाकर पानी रोक लिया जिस से वह टोंटियों की तरफ़ चला जाय। जब खेत को पानी देना होता तो पानी को ढाल की ओर जाने दिया जाता। चहारदीवारी पर बैठ कर उसने दातुन की। दातुन की कूँची से दाँत और मसूढ़े साफ़ किये, फिर दातुन बीचोंबीच से चीर कर उसे कमान की तरह से मोड़ लिया और ज़बान पर रगड़ा।

कुएँ पर झुके हुए शहतूत के दरख़्त पर पक्षी पंख फड़फड़ाने लगे।

दातुन फेंक कर उसने कपड़े उतारे। टोंटी के मुँह से लकड़ी हटा दी। मुँह और दाढ़ी धोकर 'वाह गुरु, वाह गुरु' का जाप करता पानी की धार के नीचे बैठ गया। यह रोज़ की क्रिया थी। कल वह इस जगह को छोड़ कर चला जायेगा, इस समय उसे यह बात अविश्वसनीय-सी लग रही थी।

कच्छा निचोड़ कर उसने बगल में दबाया। पानी से भरी बाल्टी उठा कर वह अन्दर चला गया। बड़े आँगन में उसकी पत्नी झाड़ू दे रही थी। कच्छा झटक कर रस्सी पर डालने के बाद उसने धरती पर पानी छिड़कना शुरू किया। आज संक्रान्ति थी।

सफ़ाई और छिड़काव के बाद टाट बिछाया गया। ग्रन्थ साहब पर सिल्क के रूमाल डाल दिये गये। चौकी भी साफ़ करके निकट ही धर दी गयी। फिर वह अन्दर से हारमोनियम, तबला, ढोलक, चिमटा इत्यादि गाने-बजाने के साज़ उठा लाया। उसकी पत्नी पास खड़ी दातुन कर रही थी। उन्होंने एक-दूसरे की ओर ताका। दोनों के मन में यह विचार था कि जब उनको यहाँ रहना ही नहीं है तो उनकी बला से, वे काम भी क्यों करें? लेकिन यह गुरु-घर का काम था। यह तो गुरुद्वारे की सेवा थी। किसी पर क्या एहसान था। अपनी करनी ही सुधारने का सवाल था। और दोनों के दिलों में आशा की एक हल्की-सी किरण भी मौजूद थी कि शायद कोई ऐसा संयोग हो जाय कि उनका जाना रुक जाय।

लड़की आज अच्छे-अच्छे कपड़े पहने फूली न समाती थी। कितनी भोली थी वह!

धूप निकल आयी। उसकी पत्नी मुँह पर छुट्टी मल कर धूप में जा बैठी। ग्रन्थी ने बड़े-बड़े मटकों में पानी भरना शुरू किया कि संगत को यदि प्यास लगे तो पानी की तकलीफ़ न हो। गुरुद्वारे का बूढ़ा बैल कमज़ोर हो चुका था। काम कम करता और आराम ज़्यादा। यह तो हो नहीं सकता था कि संगत को पानी पिलाने को वह बैल को शाम तक कुएँ के आगे जोते रखे।

शंख हाथ में लिये वह गुरुद्वारे की टूटी-फूटी चहारदीवारी के बाहर निकल आया। दरवाज़े के पास पेड़ का एक भारी-भरकम तना पानी के गड्ढे में धँसा पड़ा था। आस-पास गुरुद्वारे के वे खेत थे, जिनमें उसने खुद हल चलाया था, बीज बोया था, चाँदनी और अँधेरी रातों में पानी से सींचा था। नलाई भी की थी। उन खेतों से उसका कितना गहरा सम्बन्ध था। उसका पसीना इन खेतों की भुरभुरी मिट्टी में सूख चुका था। अब वह अपनी गाढ़ी कमाई का किसी प्रकार हक़दार न था। पास ही बरगद का एक बूढ़ा पेड़ था, जिसके सम्बन्ध में एक कहावत प्रसिद्ध थी कि गुरुओं के समय में एक बहुत ही धार्मिक पुरुष इस गुरुद्वारे में सेवा किया करता था। उसने अपनी उम्र

इसी जगह गुरु के चरणों में बिता दी। यहाँ तक कि वह बूढ़ा हो गया...। लेकिन उसकी संगत और सेवा में फ़र्क न आया। उसका हृदय उसी प्रकार श्रद्धा से भरपूर था। एक बार की बात है कि गर्मियों में दोपहर को वह खेतों की नलाई कर रहा था। उसकी पगड़ी के अन्दर उसके उलझे हुए बाल पसीने से तर हो रहे थे। उसे प्यास लगी। उसने टिंड में पानी भर कर रस्सी का बँधना बना कर बड़ के पेड़ में लटका रखा था। जब उस ने टिंड को छुआ तो वह इतनी ठण्डी थी जैसे बर्फ़। कितना शीतल जल है, उस ने सोचा, गुरु साहब सच्चे बादशाह इसी ओर आने वाले हैं। क्यों न यह जल उन्हीं के लिए रहने दूँ। वह इसमें से पानी पी लेंगे तो बचे हुए जल से अपनी प्यास बुझा लूँगा।...निःसन्देह गुरु जी दौरा करते हुए उस ओर को आने वाले थे। लेकिन उनके आने में अभी बहुत समय था। वह निश्चिन्त भाव से दरबार में बैठे संगतों को दर्शन दे रहे थे। अचानक गुरु साहब उठ बैठे और तुरन्त प्रस्थान का आदेश दिया। सभी हैरान थे कि आख़िर इसमें भेद क्या है? यह बैठे-बैठाये अकस्मात इतनी जल्दी काहे की पड़ गयी? गुरु साहब, सच्चे बादशाह बोले—एक सिक्ख हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। वह प्यासा है। जब तक मैं वहाँ जाकर पानी न पियूँगा वह प्यासा ही रहेगा...। गुरु साहब घोड़ा सरपट दौड़ाते हुए उस जगह पहुँचे, जाते ही पानी माँगा। सिक्ख ने वह टिंड आगे बढ़ा दी। वह कितना सुखी था। उसकी आँखों में ख़ुशी के आँसू आ गये।

ग्रन्थी पेड़ के तने पर खड़ा हो गया। जब उसने शंख होंठों से लगाया तो सोचने लगा—गुरु साहब दिलों का हाल जानते हैं। उन्हें मेरी निर्दोषता ज्ञात है। वह यहाँ से नहीं जायगा। उसे विश्वास था कि अवश्य ही कुछ-न-कुछ युक्ति निकल आयेगी।

शंख फूँकने के बाद वह देर तक गाँव की ओर निहारता रहा, मानो वह भी किसी के आने की बाट जोह रहा हो। कितनी तेज़ धूप हो गयी थी और लोग अभी घर से भी न निकले थे। मटियाले-मटियाले मकान, मकानों से सिर निकाले हुए हरे पेड़...। कच्ची सड़कों से आगे ढाल पर भंगियों के काले

कलूटे, नंग-धड़ंग बच्चे खेल रहे थे। तीन बछड़े इधर उधर चौकड़ियाँ भरते फिरते थे।

वह गुरुद्वारे की छोटी-सी फुलवाड़ी में गया। अंगूर की बेलें आड़ी तिरछी लकड़ियों पर से गिर पड़ी थीं। एक कोने में से उसने उलझी हुई रस्सियाँ उठायीं। बेलों को लकड़ियों के साथ लगा-लगा कर रस्सियों के टुकड़ों से कुछ ढील दे-दे कर बाँधने लगा।

उसकी मोटी-मोटी उँगलियाँ अपने काम में निपुण थीं। पास ही धनिया और मिर्चों की क्यारी थी। वह पंजे के बल पर उसके किनारे पर बैठ गया, बीच-बीच में खट्टी-मिट्ठी बूटी के छोटे-छोटे पौधे भी थे। उसने सम्हाल कर उन्हें उखाड़ना शुरू किया। बच्चे उन बूटियों को बड़ी रुचि से खाते थे। अनार के पेड़ चुपचाप समाधि लगाये हुए साधुओं की तरह दिखायी दे रहे थे। हवा बन्द थी। पेड़ों की पत्तियाँ तक नहीं हिलती थीं। लगता था, जैसे परमात्मा से उनकी लौ लगी हो। बाग़ का कितना भाग बेकार पड़ा हुआ था। उसका विचार था कि वह झाड़ियों और मदार के पेड़ों से उस हिस्से को साफ़ करके वहाँ तरकारियाँ बोये—मटर, टमाटर, गोभी...।

हर पेड़ और पौधे को देखता हुआ वह बाहर निकला। फिर उसी तने पर खड़े होकर उसने दूसरी बार शंख फूँका। कोई सूरत नज़र न आती थी। मर्द तो ख़ैर खेतों में काम कर रहे थे, लेकिन औरतें घरों में घुसी पड़ी थीं। बीवी से कहने लगा—"दो बार शंख फूँक चुका हूँ, कोई आदमी नज़र नहीं आता। कम-से-कम औरतों को तो आना चाहिए।"

उसकी बीवी चुप रही। औरतों के बारे में वह जानती थी। एक तो हर औरत के चार-चार, पाँच-पाँच बच्चे थे। उनको नहलाना धुलाना, फिर हर औरत को अपना भी बनाव-शृंगार करना था। यही वह जगह थी, जहाँ अपने गहनों और कपड़ों का प्रदर्शन किया जा सकता था। दुनिया भर की बातें यहाँ की जाती थीं। अनेक गूढ़ समस्याओं को यहीं बैठ कर सुलझाया जाता था।

छोटी बच्ची ने खुशी में ढोलकी थपथपानी शुरू की। ग्रन्थी चमेली के

चारों ओर ईंटों के उखड़े हुए जंगले को सुधारने लगा। कहीं कुछ ईंटें गिरी पड़ी थीं, कहीं कोई टहनी ईंटों से उलझ कर रह गयी थी। किसी जगह पेड़ इतने फैल गये थे कि जँगले को और बड़ा करने की ज़रूरत हो गयी थी।

लोहे के डोल भर-भर कर उसने फूलों को पानी देना शुरू किया। बेचारे गेंदे के फूल तो निरे अनाथ ही थे। कोई उनकी देख-रेख न करता था। बेचारों को सूखी और कड़ी भूमि पर ही पनपना पड़ता था। कूड़ा-करकट भी उन्हीं पर फेंक दिया जाता। इस पर भी जब फूल आते तो हर तरफ़ पीला-ही-पीला दीख पड़ता। फूलों के हार गूँथे जाते, बच्चे झोलियाँ भर-भर कर घरों को ले जाते, कुछ ग्रन्थ साहब के सामने भी चढ़ा दिये जाते। बड़ी दुर्गति होती बेचारों की। वह जब कभी गेंदे के किसी फूल की ओर देखता तो उसे उनके अनाथ होने का ख़याल आने लगता, जैसे कि वह स्वयं अनाथ था। वह पौधे के समीप बैठ जाता। फूल हवा में इधर-उधर झूमने लगता। वह प्यार से फूल को दोनों हाथों में ले लेता, मानो वह किसी बालक का चाँद-सा मुखड़ा हो। उसे एक बात याद आ जाती। एक बार गुरु अर्जुन देव जी के लबादे की झपट में आकर फूल की पंखड़ी भूमि पर गिर पड़ी तो गुरु साहब की आँखों में आँसू उमड़ आये। यह सोचते-सोचते न जाने किस भाव से प्रभावित होकर ग्रन्थी की करुणा उमड़ उठी। वह कुछ समझ न सकता था। वह जानता था कि उसकी अक़्ल मोटी थी, लेकिन फिर भी वह जाने किस भाव में मग्न हो जाता था।

भट्टी के पास उसने कड़ाह-प्रसाद (हलुवा) की कुल सामग्री इकट्ठी कर दी। लकड़ियाँ और मोटे-मोटे उपले भी एक ओर ढेर कर दिये और फिर शंख लेकर पेड़ के तने पर जा खड़ा हुआ। तीसरी बार शंख फूँक कर वह देर तक उसी तने पर खड़ा रहा। धूप चिलचिला रही थी। आँखें धूप में तपती हुई हवा की गर्मी सहन न कर सकती थीं। उसने आँखों पर हाथ रखकर गाँव पर नज़र जमा दी। शायद कोई सूरत नज़र आ जाय! उसे काम को समाप्त करने की चिन्ता हो रही थी।

कुछ नीले-पीले दुपट्टे हवा में लहराये। कुछ किशोर अवस्था के लड़के

और लड़कियाँ अठखेलियाँ करते दिखायी देने लगे। रंग-बिरंगे रूमालों से ढँकी हुई थालियाँ हथेलियों पर धरे पवित्र आत्मा बूढ़ी औरतें पीछे-पीछे चली आ रही थीं। धीरे-धीरे दोनों गाँवों के लोग चींटियों की तरह रेंगते हुए निकले और छोटी-छोटी टोलियों में गुरुद्वारे की ओर बढ़े।

ग्रन्थी ने हाथ-पैर धोकर पगड़ी सम्हाली। गले में पीले रंग का लम्बा-सा कपड़ा डाल कर 'वाह गुरु,' 'वाह गुरु' कहता गुरु ग्रन्थ साहब के पास जा बैठा।

गुरु ग्रन्थ साहब पर से रूमाल हटा कर, बड़ी सावधानी से लपेट, उसने उसे जिल्द के नीचे दबा दिया और पवित्र ग्रन्थ को खोल, आँखें बन्द कर, चौरी हिलाने लगा।

लम्बे-लम्बे घूँघट निकाले हुए औरतें चहारदीवारी के अन्दर दाख़िल हुईं। उनमें से कोई-कोई नयी-नवेली दुल्हनें थीं, जिन्होंने कुहनियों तक चूड़ियाँ पहन रखी थीं। लाल रंग की क़मीज़ और शलवार में गठरी-सी बनी हुई वे बीर बहूटियों-जैसी दिखायी दे रही थीं। गुरु ग्रन्थ साहब के सामने पैसे, बताशे, फूल, थालियों में चावल, दाल, आटा इत्यादि रख वे माथा टेकतीं और एक तरफ़ बैठ जातीं। लड़कों में किसी ने हारमोनियम पकड़ लिया। एक लड़का धौंकनी को हिला-हिलाकर हवा देने लगा। दूसरा अपनी उँगलियों से लकड़ियों के काले सफ़ेद स्वरों को बुरी तरह दबाने लगा। एक ने ढोलकी बजानी शुरू कर दी। दो लड़के बड़े-से चिमटे को बजाने लगे। छैने भी छनछना कर बोलने लगे। इधर औरतों ने आपस में बातें शुरू कर दीं। उनकी आवाज़ हर नियंत्रण से मुक्त दूर तक सुनी जा सकती थी। कुछ लड़कों ने इधर-उधर भागना शुरू किया। नयी इमारत की ईंटों की थाक लगी हुई थी। लड़कों ने ईंटों की रेलगाड़ी बनायी। एक लम्बी लाइन में ईंटें एक के पीछे एक कुछ-कुछ अंतर पर रख दी गयीं। फिर एक को जो ठोकर लगायी तो सारी ईंटें धड़ाधड़ गिरने लगीं। लड़के उछल-उछल कर शोर मचाने लगे। उनकी ढीली-ढाली पगड़ियाँ खुल गयीं। उन्होंने फिर बाँधने की जगह उन्हें अपनी बग़लों में दबा लिया और बाग़ का चक्कर लगाने

निकल गये। आज वे निडर हो रहे थे। वे अपनी माताओं के साथ थे। ग्रन्थी का अव्वल तो आज कुछ डर भी न था, दूसरे वह उस समय तो आँखें बन्द किये ग्रन्थ साहब के पास बैठा था।

अब मर्दों की आमद शुरू हुई। मोटे खद्दर के तहबंद बाँधे, घुटनों तक लम्बे कुर्ते पहने, सिरों पर आठ-आठ, दस-दस गज़ की कलफ़ लगी पगड़ियाँ लपेटे, हाथों में लोहे और पीतल की मूठ वाली लाठियाँ थामे और अपनी दाढ़ियों को खूब चिकना किये हुए आये और माथा टेक-टेक कर वे इधर-उधर बैठने लगे। उनमें लम्बे-तगड़े नवयुवक भी थे, जिनकी तहबन्दों के रंगीन रेशमी किनारे जान-बूझ कर घुटनों तक लटकाये गये थे। पगड़ियों के शमले खूब अकड़े हुए थे। कुछ ऐसे छैल-छबीले भी थे, जिन्होंने पगड़ी का पिछला छोर घुमा-फिरा कर बड़ी युक्ति से अगले सिरे पर ला ठूँसा था, जैसे किसी पले हुए मुर्ग़ के सिर पर उसकी सजी-बनी कलग़ी।

मर्दों के पहुँच जाने पर कार्यक्रम शुरू हुआ। कुछ नौजवानों ने बढ़ कर साज़ सम्हाल लिये। एक-एक इलायची और लौंग मुँह में डालकर साज़ बजाने शुरू किये। हारमोनियम के साथ ताल पर ढोलक बजने लगी। चिमटे वाले ने झूम-झूमकर चिमटा बजाना शुरू किया। इधर छैने भी टकराये। हारमोनियम वाले ने मुँह खोल कर एक लम्बी 'हो' निकालने के बाद गाया—

'एथे बैठ किसे नहीं रहना मेला दो दिन दा।'

इतना कह कर वह लगातार मुँह हिलाने लगा। ढोलकी वाले की गर्दन हिलती थी तो चिमटे वाले का धड़। जब एक बार कार्यवाही शुरू हो गयी तो मुख्य लोगों ने आपस में कानाफूसी शुरू कर दी। कई मामलों पर विचार होता जान पड़ता था।

शब्द-कीर्तन के बाद गुरु ग्रन्थ साहब की पवित्र वाणी पढ़ कर उपस्थित सज्जनों को सुनायी गयी। उसके बाद ग्रन्थी चौकी पर से उतरा और अरदास के लिए गुरु ग्रन्थ साहब के सामने हाथ बाँध कर खड़ा हो गया। दूसरों ने भी उसका अनुकरण किया। सब लोग हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

ग्रन्थी ने आँखें बन्द कर लीं और अरदास शुरू की :

"प्रथम भगवती सुमर के गुरु नानक लईं ध्याय।
फिर अंगद गोर ते अमर दास रामदासे हो सहाय..."

इस तरह दसों गुरुओं को स्मरण किया गया और फिर—

"...पंज प्यारे, चार साहबज़ादे (साहब अजीत सिंह जी, साहब जुझार सिंह जी, साहब ज़ोरावर सिंह जी, साहब फ़तेह सिंह जी) चालीस मुक्ते, शहीदों, पुरीदों, सिदक रखने वाले सिक्खों की कमाई का ध्यान धर के ख़ालसा जी बोलो, वाह गुरु...।" ग्रन्थी के वाह गुरु करने पर उपस्थित लोग 'वाह गुरु, वाह गुरु!' कहते। इधर उनकी आवाज़ गूँजती, उधर एक बड़े नगाड़े पर चोट पड़ती। और नगाड़े की आवाज़ लोगों की आवाज़ से घुल-मिलकर देर तक प्रतिध्वनित होती रहती। और दिलों पर एक आतंक-सा छा जाता।..."जिन लोगों ने धर्म के लिए जानें बलिदान दीं; चरखड़ियों पर चढ़े, बदन के जोड़-जोड़ अलग करवा दिये, जिनकी खालें खींच ली गयीं; जिन्होंने खोपड़ियाँ उतरवायीं, लेकिन अपना धर्म नहीं छोड़ा; जिन्होंने सिक्खी सिदक अपने सिर के पवित्र केशों को अपनी आख़िरी साँसों तक निभाया, उन सिंहों और सिंहनियों की कमाई का ध्यान करके ख़ालसा साहब बोलो जी, वाह गुरु...!"

"वाह गुरु, वाह गुरु...!"

"...जिन गुर्मुखों ने गुरुद्वारों के सुधार की ख़ातिर श्री ननकाना साहब जी में और श्री तरन तारन साहब के सिलसिले में अपने जिस्मों पर तकलीफ़ें सहीं, जीते जी तेल में डाल कर जला दिये गये, दहकती भट्ठियों में झोंक दिये गये और वे इस तरह शहीद हो गये, उन गुरु की सूरत रखने वाले सिक्खों की कमाई का सदका, ख़ालसा साहब बोलो जी, वाह गुरु...!"

"वाह-गुरु, वाह-गुरु!"

"...जिन माओं, बीवियों ने अपने बच्चों और पतियों के टुकड़े-टुकड़े करवा कर अपनी झोलियों में डलवा लिये, उनकी कमाई का सदका, ख़ालसा साहब बोलो जी, वाह गुरु...!"

"वाह गुरु, वाह गुरु...!"

लम्बी अरदास के अन्त में—

"(ऐ गुरु साहब !) हमको क्रोध, लोभ, मोह, और मद से बचाइए ! आपके हुज़ूर अमृत वेले की अरदास, अगर भूल-चूक में कोई शब्द कम व वेश हो गया हो तो उसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं, सब के काम सँवारिए, गुरुनानक नाम, चढ़ दी कला, तेरे भाने सबका भला।"

सब ने झुक कर मस्तक भूमि पर टेक दिये। ग्रन्थी ने दिल-ही-दिल में कहा—'वाह गुरु, सच्चे बादशाह से दिलों का हाल छिपा नहीं।' फिर खड़े होकर 'जो बोले सो निहाल, सत श्री अकाल!' की तीन ललकारें लगायीं। इसके बाद कड़ाह प्रसाद बाँटा गया। धीरे-धीरे लोग प्रसाद हाथों में छिपाये व कटोरियों में लिये चले गये। कुछ ख़ास-ख़ास लोग बैठे रहे। जब एकान्त हो गया तो उन्होंने ग्रन्थी से कहा कि अगर प्रसाद बाक़ी हो तो लाया जाय। ग्रन्थी ने प्रसाद उनको बाँट दिया। चेहरों को अपने चिकने हाथों से मलते हुए वे खाता लेकर बैठे। पौन घंटे की बहस के बाद हिसाब साफ़ हुआ। ग्रन्थी से कह दिया गया कि दूसरे दिन, जाने के पहले वह चाभियाँ सरदार बग्गासिंह नम्बरदार को दे जाय।

उनके चले जाने के बाद ग्रन्थी की सारी आशाएँ समाप्त हो गयीं। उसकी पत्नी ने घर का सामान बाँधना शुरू कर दिया। ग्रन्थी के दिल में अब तक कुछ कसक-सी थी। वह उलझन से इधर-उधर घूमने लगा।

अपने दोनों हाथ पीठ पर बाँधे, तालाब के किनारे खड़ा हो कर वह उसके हरे जल को देखने लगा। उसके किनारे टूट-फूट गये थे। एक-दो जगह से सीढ़ियों की ईंटें भी उखड़ गयी थीं, काई जमी हुई थी। उस तालाब में कोई नहाता न था। न जाने कब से उसमें बरसात का पानी जमा था। बबूल के पीले-पीले फूलों की तह सी जमी हुई थी और बरगद के बड़े-बड़े पीले रंग के पत्ते किसी ध्वस्त जहाज़ के चूर-चूर तख़्तों के टुकड़ों की तरह तैर रहे थे।

उसके पास पुरानी समाधि थी, जिसकी दीवारों पर जगह जगह से चूना

उखड़ा हुआ था। उसकी दीवारों पर पुराने समय की रंगीन तस्वीरें भी थीं। कई जगह से रंग उखड़े हुए ज़रूर थे, लेकिन जहाँ कहीं भी बचे थे, अत्यन्त चमकीले और मनोहर दीखते थे, विशेषकर गुरु नानक साहब की छवि के—पेड़ की छाँह में बाबा नानक जी बैठे थे। एक ओर भाई बाला और दूसरी ओर भाई मर्दाना। पेड़ की डाल से पिंजरा लटक रहा था, जिसमें एक लाल चोंच वाला तोता साफ़ दिखायी दे रहा था। एकान्त स्थान पर सातवें गुरु साहब परमात्मा की याद में तल्लीन रहते थे।...तीन-चार वर्ष पहले की बात थी कि एक सिक्ख इसी जगह पर बैठ कर नित्य भक्ति किया करता था। एक बार रात के वक्त यकायक समाधि देदीप्यमान हो गयी। कण-कण दिखायी देने लगा। इतने में एक दिव्य मूर्ति प्रकट हुई...लेकिन वह सिक्ख दर्शन की ताब न ला सका। वह भाग कर बाहर निकल आया। एकदम गूँगा हो गया। इसके बाद किसी ने उसे बोलते नहीं सुना। ग्रन्थी ने समाधि का द्वार खोल कर उसके गीले फर्श पर अपना पाँव रखा और चुपचाप खड़ा हो गया। इतने में उसकी पत्नी वहाँ आयी और उसकी बेहाल सूरत देख कर कुछ परेशान-सी हो गयी। वह अपने साथ उसे लिवा ले गयी।

आँगन में हाथ की चर्खी वाले कुएँ के चारों ओर बने हुए चौड़े चबूतरे पर नीले रंग की लम्बोतरी पगड़ियाँ बाँधे निहंग सिक्ख पत्थर के बड़े-से कूँडे में ठण्डाई घोंट रहे थे। पगड़ियों पर लोहे के चक्र, गले में लौह-मनकों की माला, लम्बे-लम्बे लबादे...। लोग बारी-बारी से बादाम, चारों मेवे, काली मिर्चें और थोड़ी-सी रंग वाली ठण्डाई की घुटाई कर रहे थे। एक अपने दोनों हाथों और पैरों से कूँडे को दोनों तरफ़ से जकड़े हुए था और दूसरा घोंटने का एक लम्बा-चौड़ा डंडा, जो नीचे से कम मोटा और ऊपर से बहुत ज़्यादा मोटा था, हाथों में लिये घुमा रहा था। डंडे के ऊपर घुँघरू बँधे थे, जो छन-छन बोल रहे थे। ग्रन्थी कुछ देर तक उनको देखता रहा।

सूर्यदेव अस्ताचल को जा चुके थे। हवा बन्द थी। उसकी पत्नी दूध दुह कर अन्दर जा रही थी। उसने नित्य की तरह अपनी चारपाई बाड़े के पास डाल दी थी। वह जूते उतार दोनों घुटनों पर कुहनियाँ टेक चारपाई

नर जा बैठा।

कौवों के झुण्ड-के-झुण्ड काँव-काँव करते गाँव का चक्कर लगा रहे थे। छोटी-सी नहर की ऊँची मेड़ चक्कर लगाती क्षितिज में गुम हो गयी थी। दूर कुछ ऊँट बिना नकेल के इधर-उधर घूम रहे थे।

ग्रन्थी खोयी-खोयी नज़रों से अस्ताचल की ओर इस तरह देख रहा था जैसे वह किसी की प्रतीक्षा कर रहा हो। जैसे आकाश से कोई तेजस्वी मूर्ति प्रकट होने वाली थी...। अँधेरा बढ़ रहा था। पूर्णमासी का चाँद ऊपर उठ रहा था। इतने में बन्ता सिंह कन्धे पर फावड़ा रखे आ निकला। बन्ता सिंह किसी औरत को भगाने के अभियोग में डेढ़ वर्ष का कठिन कारावास भुगत कर कल ही अपने गाँव वापस आया था। जेल की मुसीबतों का उस पर कुछ भी प्रभाव न हुआ था। वह वैसा ही हट्टा-कट्टा बना था। जब उसे सज़ा हुई थी, उस समय ग्रन्थी गुरुद्वारे में आया ही था। पास पहुँच कर बन्ता सिंह ने ऊँचे स्वर में 'सत श्री अकाल' की हाँक लगायी और चारपाई पर बैठ गया। उसके फावड़े से गाढ़ी-गाढ़ी कीचड़ चमक रही थी।

इधर-उधर की बातों के बाद उसने पूछा, "ग्रन्थी जी, सुना है आपके ख़िलाफ़ कुछ झगड़ा किया गया है। मैं तो कल रात वापस आया था। आज सुबह से मैं चक नम्बर १५६ में मामा से मिलने चला गया था। फिर मैं सीधा खेतों की ओर चला आया। आख़िर माजरा क्या है?"

बन्ता सिंह की धाक न सिर्फ़ अपने गाँव में थी, बल्कि इलाक़े भर में लोग उससे डरते थे। जब ग्रन्थी ने बताया कि उसके बारे में आख़िरी फ़ैसला भी कर दिया गया है तो वह झुँझला कर उठ खड़ा हुआ, "किसकी मजाल है जो तुमको यहाँ से निकाले ग्रन्थी जी? तुम इसी जगह रहोगे और डंके की चोट रहोगे। मैं देखूँगा कौन माई का लाल तुमको यहाँ से निकालने आता है?"

यह सुन कर ग्रन्थी ने, जो अब तक निर्जीव-सा बैठा था, आँखें झपकायीं। उसकी भौंहें काँपीं और वह दीन स्वर में बोला, "और सरदार बन्ता सिंह, वाह गुरु जानता है कि मैंने लाजो को छुआ तक नहीं।"

सरदार बग्गा सिंह के दो आदमी उधर से निकलते हुए ये बातें सुन रहे थे। बन्ता सिंह उनको सुना कर ऊँचे स्वर में ललकार कर बोला, "ग्रन्थी जी, तुम यह क्यों कहते हो कि तुमने उसका हाथ नहीं पकड़ा। तुम हज़ार बार उसका हाथ पकड़ सकते हो। मैं बग्गा सिंह को भी देख लूँगा। बड़ा नम्बरदार बना फिरता है। और जिन लोगों ने तुम्हारे खिलाफ़ पंचायत में हिस्सा लिया था, उनमें से एक-एक से निपट लूँगा...।" अपनी भरपूर आवाज़ में उसने मोटी-मोटी गालियाँ भी सुनायीं। "यह उसके बाप का घर नहीं है। वाह गुरु का घर है। यहाँ किसी ग़रीब के साथ भी अन्याय नहीं हो सकता!"

यह खबर गाँव में आग की तरह फैल गयी। सब लोग लाजो को गालियाँ देने लगे—"हरामज़ादी ने मुफ़्त में बेचारे ग्रन्थी पर इलज़ाम लगा दिया।"

अहमद नदीम क़ासिमी

●●●

उतार-चढ़ाव

शादी के तीन दिन बाद राहत अली को अचानक महसूस हुआ कि उसने साजिदा को अपनी पत्नी बना कर झख मारी है। अचानक इसलिए कि अभी क्षण भर पहले साजिदा उसके दिल और दिमाग़ पर आसमान की तरह छायी हुई थी।

कुछ देर पहले, जब गाड़ी जेहलम के पुल पर से गुज़र रही थी तो साजिदा ने पत्रिका एक तरफ़ रख दी थी और पुल की गरज को एक क्षण कान धर कर सुनने के बाद कहा था—"अरे! ऐसा लगता है, कि पुल 'जेहलम, जेहलम, जेहलम' पुकार रहा है।"

इस पर राहत अली ने कहा था—"तुम्हें अपने मायके जाने का कितना शौक़ है, सज्जो। यह ठीक है कि इन दिनों मैं भी तुम्हारे मायके में ही रहूँगा। पर ऐसा लगता है कि तुम्हारे माँ-बाप दो-तीन दिन के लिए तुम्हें मुझसे छीने ले रहे हैं। सच कहता हूँ, सज्जो, मैंने तो अभी जी भरकर तुम्हें देखा भी नहीं। तुम्हें क्या पता कि मेरे हाथों की हड्डियाँ तुम्हारे कंगनों की

चोटें खाने के लिए कितनी मुद्दत से बेक़रार हैं। मगर मैं तुम्हारे इन्तज़ार में इतनी मुद्दत तक जागते रहने के बाद अभी आँखें ही मल रहा था कि तुम्हारा भाई तुम्हें लेने आ गया। बात सुनो, यों करें कि जेहलम में उतरें ही नहीं, पिंडी की तरफ़ भाग जायें।"

इस पर साजिदा जिस तरह मुस्करायी थी, वह एक अजीब मुस्कराहट थी। उस मुस्कराहट में लज्जा भी थी, गर्व भी था और उस शिकारी का-सा आत्म-संतोष भी, जो हिरन को जाल में फँसता देख कर उसे जाल में से निकालने और काटने से पहले, टाँगें फैला कर बैठ जाता है, और आँखें बन्द करके सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश लगाने लगता है। उसने सिर्फ़ इतना कहा था, "भाग तो जायें, पर वह परली तरफ़ खिड़की के पास भाई जान जो बैठे हैं।"

राहत अली ने चन्द महीने पहले जब साजिदा को पहली बार देखा था तो उसे जैसे पहली बार यक़ीन आया था कि अजन्ता की गुफाओं-जैसी देवियाँ आज भी जीवित हैं। ऐसा चमकता-दमकता रंग कि उसे देखने के बाद आदमी कुछ देख ही न सके। हल्की भौंहों के नीचे इतनी बड़ी-बड़ी आँखें कि बच्चों के चेहरों पर भी बड़ी भली मालूम हों। इतनी लम्बी पलकें कि अगर बिजली का बल्ब उसके सिर पर चमक रहा हो तो पलकों के साये उसके सारे चेहरे पर चिलमन-सी काढ़ दें। पतली, ज़रा-सी झुकी हुई नाक और इतने पतले होंठ, जैसे लाल रेशम के एक तार पर लाल रेशम का एक तार रखा हो। नन्ही-सी, गोल-सी ठोड़ी और ऐसी गोरी स्वच्छ-सी गर्दन कि पानी का घूँट भी उतरता दिखायी दे जाये। उसके शरीर की सारी गोलाइयाँ और सारे कोण अजन्ता की मूर्तियों के-से थे। राहत अली ने जब भी उन मूर्तियों के चित्र देखे थे, स्वास्थ्य और जवानी से लबालब भरे हुए उन शरीरों ने उसे यह सोचने पर विवश किया था कि उन मूर्तियों के बनाने वाले शिल्पियों ने थोड़ी अतिशयोक्ति से ज़रूर काम लिया है। शिल्पी, चित्रकार और कवि सीधी-सादी साफ़ नज़र आने वाली सच्चाई में कला का सौंदर्य केवल इस तरह पैदा कर सकते हैं कि चलते-चलते यों ही, जैसे रवा-

रवी में, थोड़ी अतिशयोक्ति बरत जायँ। पर साजिदा को देख कर एक पल के लिए राहत अली को ख़याल आया था कि क्या ख़ुदा भी अतिशयोक्ति से काम लेता है? फिर जब उसने देखा था कि यह मूर्ति उठती, बैठती, हँसती और चेहरे पर उतरती हुई लटों को झटकती भी है तो उसने सोचा था कि कुछ वास्तविकताएँ भी अतिशयोक्ति की सीमा तक सुन्दर हो सकती हैं।

राहत अली अपने एक दोस्त अब्दुल हन्नान का शहबाला बनकर बरात के साथ लाहौर से जेहलम आया था। रात को जब दुल्हन की सहेलियाँ अब्दुल हन्नान को कान से पकड़कर ले जाने लगीं तो शहबाला होने के नाते राहत अली भी दूल्हे के बचाव के लिए उनके साथ हो लिया। दुल्हन की हवेली के सदर दरवाज़े के पास अचानक एक लड़की चीख़ उठी—"हाय! हमारे साथ तो यह कोई ग़ैर मर्दुआ भी आ रहा है।" सब लड़कियाँ बिलबिला कर दरवाज़े की तरफ़ भागीं तो आगे जाता हुआ अब्दुल हन्नान उनके रेले में गिर पड़ा। एक लड़की उसके ऊपर से कूदी और फिर सब लड़कियाँ उसे फाँदती हुई गुज़र गयीं। राहत अली ने लपक कर अब्दुल हन्नान को उठाया तो सामने से लड़कियों ने दो टार्चों की रोशनी उनके चेहरों पर चाँटों की तरह दे मारी और फिर चीख़-चीख़ कर हँसने लगीं और तालियाँ बजाती हुई अन्दर भाग गयीं। ऊपर डेवढ़ी की छत पर भी भगदड़ मच गयी। और राहत अली ने अब्दुल हन्नान को सलाह दी कि सुनहरा मौका है, भाग निकलें। अब्दुल हन्नान लड़कियों के इस असभ्य व्यवहार के कारण ग़ुस्से में था। कुछ कहे बिना पलटा तो सामने से उसके मुँह पर एक और टार्च का चाँटा पड़ा। और दोनों स्तब्ध-से खड़े रह गये। फिर एक लड़की इस तरह टख-टख करने लगी, जैसे दूल्हे और शहबाला को बैल समझ कर अन्दर हवेली में हँका रही हो। विवश हो दोनों हवेली में आये तो वहाँ तेज़ रोशनी ने रात को दिन बना रखा था। राहत अली ने पलट कर, जब उस लड़की की तरफ़ देखा, जो दोनों को अन्दर हँका लायी थी तो एकदम उसका जी चाहा कि वह डकारने लगे।

"मुँह फाड़े क्या देख रहे हो ?" लड़की रोब से बोली, "आगे चलो !" राहत अली ने लड़की की आवाज़ पहचान ली। यही थी, जिसने ग़ैर मर्दुए की मौजूदगी का नारा लगाया था और शायद यही थी, जिसने मुँह के बल गिरे हुए दूल्हा पर से फाँदने की शुरुआत की थी। यही साजिदा थी।

औरतों और लड़कियों से ठँसे हुए एक कमरे में जब अब्दुल हन्नान और राहत अली के सामने 'बेड़ी घोड़ी' लाकर रखी गयी तो साजिदा आयी। उनके सामने आल्थी-पाल्थी मार कर बैठ गयी और बेड़ी घोड़ी में सजे हुए एक थाल में से मैदे की भद्दी मूर्तियाँ उठा कर दूल्हा से उनका परिचय कराने लगी, "ये आपके अब्बा जान हैं! पूरब से पच्छिम तक फैली हुई तोंद से पहचानिए !"

साठ-सत्तर औरतों के ठहाके एक साथ गूँजे। और किसी ने कहा, "यह साजिदा कमबख़्त तो शैतान की ख़ाला निकली।"

साजिदा दूल्हा से कह रही थी—"ये आपकी अम्मी जान हैं। धज्जियों की तरह लटकती हुई झुर्रियों से पहचानिए !"

"ये आपके मामू जान हैं। हथेली पर रखी हुई बेर बराबर अफ़ीम की गोली से पहचानिए !"

"और ये आपके शहबाला जान हैं। उल्लू की-सी सूरत से पहिचानिए।"

औरतें यों चिल्ला-चिल्ला कर हँस रही थीं, जैसे रो रही हों। और साजिदा आख़िर मूर्ति को राहत अली के मुँह के इतने क़रीब ले आयी, जैसे उसके मुँह में ठूँस देगी। बोली—"यह आप हैं! वही पकौड़े की-सी नाक है कि नहीं ? वही चने बराबर आँखें हैं कि नहीं ? वही छाज के-से कान हैं कि नहीं ? वही गुफा का-सा मुँह है कि नहीं ?" फिर वह औरतों के ठहाकों के बीच उस मूर्ति को राहत अली के सामने नचाने लगी। "है कि नहीं, है कि नहीं, है कि नहीं ?"...

और राहत अली हक्का-बक्का ज़ाहिर में उस मूर्ति को देखता रहा, पर वास्तव में वह साजिदा को देखता रहा, जो देवलोक के धुँधलकों से निकलकर यहाँ चली आयी थी, और अपने साथ ऐसा अद्वितीय, अपरिचित

और पाँव तले से धरती को निकाल देने वाला सौंदर्य समेट लायी थी कि यथार्थता और कल्पना की सीमाएँ आपस में गड-मड हो गयी थीं।

राहत अली को अब्दुल हन्नान पहले ही से बता चुका था कि दुल्हन की ख़ास सहेली की तरह बरसों की पुरानी रस्म के अनुसार, दूल्हा के शहबाले को भी हक़ हासिल है कि वह हर तरह की आज़ादी बरत सकता है, बशर्ते कि वह शिष्टता की सीमा में हो। वह मैदे की उस मूर्ति को साजिदा के हाथ से नोचकर बिगाड़-बिगूड़ सकता था, पर वह उल्लू बना चुपचाप बैठा रहा। और यह देख कर औरतों को इतना मज़ा आया कि वे एक-दूसरी को धक्के देकर राहत अली पर गिरने की कोशिश करने लगीं। स्वयं साजिदा का यह हाल था कि चमकता हुआ सुनहरा रंग लहू-लुहान हो रहा था। आँखों का काजल मिला पानी गालों पर फैल गया था और राहत अली की मूर्ति को देर तक पकड़े-पकड़े और नचाते-नचाते उसका अँगूठा मूर्ति के सीने में धँस गया था।

फिर जब 'बेड़ी घोड़ी' में घी लगे उल्टे कटोरे को सीधा करने की बारी आयी तो साजिदा ने कटोरे की तरफ़ बढ़ते हुए राहत अली के हाथ की हड्डियों पर ठोस चाँदी के कंगन के सिरे इतने ज़ोर-ज़ोर से मारे कि कटोरे को सीधा करना तो एक तरफ़ रहा, राहत अली कटोरे को छू भी न सका। औरतें हँसती रहीं और उसे 'मियाँ बुद्धू जी' और 'हुज़ूर बसन्ता ख़ाँ' की उपाधियाँ देती रहीं और साजिदा की चोटों में ज़्यादा तेज़ी और कठोरता पैदा होती गयी। एक बार अब्दुल हन्नान ने भी उसे चुपके से ठहोका दिया, पर राहत अली के उल्टे हाथ पर कंगन के नुकीले सिरे उसी तरह बजते रहे और कहीं-कहीं से ख़ून भी फूट निकला। फिर यकायक राहत अली को न जाने क्या हुआ कि उसने लपक कर साजिदा की चूड़ियों-भरी कलाई दबोच ली। काँच की चूड़ियाँ छनक कर टूटीं और हर तरफ़ सुर्ख़-हरे काँच के टुकड़े बिखर गये। चन्द किर्चियाँ साजिदा की कलाई में घुस गयीं और उसने चीख़ मार कर कंगन गिरा दिया। इस कशमकश में 'बेड़ी घोड़ी' उलट गयी और उसके कोनों में जलते हुए घी के दिये पास बैठी हुई औरतों की

गोद में जा गिरे। औरतें भड़क कर उठीं और फिर सब एकदम ख़ामोश हो गयीं। साजिदा और राहत अली के चेहरों पर एक अजीब-सा रंग आ गया था—एक ऐसा रंग, जिसका अभी तक कोई नाम नहीं रखा गया। जैसे मिट्टी और हल्दी और ख़ून और ज़हर को आपस में मिला कर मल दिया जाय। बुत बना अब्दुल हन्नान पहली बार बोला, "अरे क्या करते हो, पागल हुए हो?" पर राहत अली ने तड़पती-फड़कती हुई साजिदा की कलाई पर से अपनी गिरफ़्त को ज़रा-सा भी ढीला न किया। फिर अचानक साजिदा की चीख़ें रुक गयीं और उसने बड़ी नर्मी से अपना दूसरा हाथ राहत अली के हाथ पर रखते हुए, धीरे से बड़े दुख और बड़ी विनम्रता के साथ कहा, "ज़ालिम, अब छोड़ भी दे!" और राहत अली ने उसका हाथ तुरन्त छोड़ दिया। साजिदा ने अपने चेहरे पर उतरी हुई लटों को सिर के एक झटके से उल्टा और अपनी कलाई के ज़ख़्मों को घूरती हुई पीछे हट गयी। मामूली-सी शक्ल की एक लम्बे क़द वाली और मोटी लड़की 'बेड़ी घोड़ी' के रंगीन काग़ज़ों में लिपटे हुए सरकंडों के उस तरफ़ से बोली, "बदतमीज़, वहशी, जानवर!" फिर साजिदा की तरफ बढ़ी, पर यों रुक गयी, जैसे कोई ज़रूरी बात कहना भूल गयी हो। पल्टी और राहत अली की आँखों में आँखें गाड़ कर बोली—"कमीना!"

"हायँ, ज़रीना!" कोई बड़ी बी बोलीं, "गाली मत बको!"

बरात जब वापस लाहौर पहुँची तो राहत अली हाथ धोकर अब्दुल हन्नान के पीछे पड़ गया कि वह अपनी पत्नी से कह कर साजिदा के रिश्ते की बात करने में उसकी मदद करे।

एक दिन अब्दुल हन्नान ने राहत अली की उपस्थिति में, हँसी-हँसी में यह ज़िक्र छेड़ा तो रज़िया ने साजिदा की तारीफ़ों के पुल बाँध दिये। बोली, "न जाने उस दिन उसे क्या हो गया था? वैसे तो वह ऐसी लिये-दिये रहने वाली लड़की है कि मुझ-जैसी पुरानी और पक्की सहेली ने भी उसकी ज़बान से कभी कोई ऐसी-वैसी बात नहीं सुनी। बस, एक डर है। सुना है कि उस दिन पहले तो राहत भाई चुपचाप बैठे कंगन खाते रहे, लेकिन फिर

अचानक उसकी कलाई पर हाथ मारा तो चूड़ियों की किर्चियाँ उसकी खाल में उतर गयीं। मैं जब मुकलावे पर जेहलम गयी तो उसने बताया कि डाक्टर तक नौबत पहुँची है और वह रोज़ाना पेन्सलीन के टीके ले रही है। साजिदा को जब यह मालूम होगा कि रिश्ता उसी चूड़ीतोड़ की तरफ़ से आया है तो मैं कैसे यक़ीन दिलाऊँगी कि राहत भाई वैसे बहुत भले आदमी हैं ?"

"मैं बेचारा शहरी आदमी," राहत अली ने अपनी सफाई दी, "मुझे क्या मालूम कि बेड़ी घोड़ी किस बला का नाम है और घी लगे कटोरे कैसे उठाये जाते हैं ? हन्नान ने मुझे ज़रा-सा बताया तो था, पर मुझे यहाँ तक की ख़बर न थी। उसने तो मेरे हाथ की हड्डियों पर भी गूमड़ डाल दिये थे। अब तक हाथ सीधा नहीं होता। ख़ुदा की क़सम, मैं इस ख़याल से चुपचाप बैठा चोटें सहता रहा कि शायद मुझे अनजान समझ कर उसे रहम आ जाये। फिर जब महसूस किया कि हाथ बिलकुल फोड़ा हो रहा है तो मैंने एकदम अन्धों की तरह उसकी कलाई पकड़ ली। आप ही बताइए भाभी, मैं क्या करता ? इसमें मेरा क्या कसूर है ?"

"जाने मुझे क्या हो गया था हन्नान," बाद में उसने हन्नान को बताया था, "वह तो मुझे ख़ुदा का शुक्र अदा करना चाहिए, कि साजिदा की कलाई पर मेरा हाथ पड़ने से उसकी चूड़ियाँ टूटीं तो मेरी आँखें खुलीं। अगर चूड़ियाँ न टूटतीं तो क़सम खा कर कहता हूँ, ख़ुदा जाने मैं क्या कर बैठता। वह कंगन मेरे हाथ पर मारती थी और चोट मेरे दिल पर पड़ती थी। और फिर यह भी शुक्र करो कि मैंने उसे छू लिया। मैं ऐसा न करता, तो ख़ुदा की क़सम, बच्चों की तरह रोने बैठ जाता—दर्द की वजह से नहीं, जाने किस वजह से ! बस, मुझे रोना आ जाता—औरतों के सामने रोना आ जाता।"

अब्दुल हन्नान और उसकी पत्नी जब भी जेहलम गये, साजिदा के माँ-बाप से ज़रूर मिले। राहत अली के ख़ानदान, जायदाद और आमदनी की तफ़सीलें भी सुनाते रहे। रज़िया ने हन्नान को यह भी बताया कि जब एक बार उसने साजिदा से यही ज़िक्र छेड़ा तो वह बिलकुल गुलाबी हो

गयी और बोली, "हाय, उस रोज़ भी तो वो कुछ ऐसे बुरे नहीं लगे थे।"

राहत अली के माँ-बाप मर चुके थे और वह अपने पिता का इकलौता बेटा था। इसलिए आख़िर में रज़िया के कहने पर उसने कहीं से दूर-दराज़ की एक मौसी का भी पता लगा लिया, जो अब्दुल हन्नान और रज़िया के साथ जेहलम जाकर बात पक्की कर आयी और तीन महीने बाद की एक तारीख़ भी निश्चित हो गयी।

शादी के दिन लड़कियों ने राहत अली को ख़ूब बनाया, पर वह बुद्धू की तरह बैठा चुपचाप बनता रहा। जेहलम ही से उसके लिए एक शहबाला ढूँढ़ निकाला गया, जो साजिदा की ख़ास सहेली ज़रीना के हाथों के चाँदी के ठोस कंगन की तीन-चार चोटें खाने के बाद ही भाग निकला और लड़कियों को लताड़ता हुआ एक खिड़की में से कूदा तो एक उँगली तुड़वा बैठा। लेकिन उसे फिर से पकड़ कर ला बैठाया गया और उसके घाव पर नमक छिड़क कर पट्टी बाँध दी गयी। इस पर वह गालियों पर उतर आया। पर राहत अली मुस्कराता रहा और नंगी-नंगी गालियों-भरे गीत सुनता रहा और सोचता रहा कि जब वह पहली बार साजिदा से अकेले में मिलेगा तो उसकी कलाई पर से ठोस सोने के कंगन उतार कर, जो उसने साजिदा के लिए बड़े शौक से बनवाये थे, अपना हाथ उसके सामने फैला देगा और कहेगा, 'लो, सज्जो, फ़र्ज़ करो कि मैं घी लगा कटोरा उलटने लगा हूँ।' पर साजिदा उसके सामने बार-बार ज़ख़्मी कलाई को बायें हाथ में लेकर पीछे हटती हुई उभरती रही, और वह सोचता रहा कि वह उसकी कलाई पर कहाँ-कहाँ प्यार करेगा और अगर कलाई पर चूड़ियाँ हुईं तो उन्हें कितनी नर्मी से इधर-उधर हटा कर अपने होंठों के लिए जगह बनायेगा।

शादी के बाद राहत अली को साजिदा के साथ सिर्फ़ दो दिन गुज़ारने का मौक़ा मिला। पर उन दो दिनों में उसका हाल ऐसा रहा, मानो वह हफ़्तों का बीमार है। उसका रंग पीला पड़ गया था और हथेलियाँ और तलुए हर समय पसीजे रहते थे। अब्दुल हन्नान ने उसे समझाया भी कि दुल्हाओं के ये तेवर नहीं होते, पर राहत अली बोला, "मैं क्या करूँ,

हन्नान, मैं अभी तक यह फ़ैसला ही नहीं कर पाया कि मैं इस लड़की से प्यार करूँ, या इसकी पूजा करूँ, या इससे नफ़रत करूँ। वह, जिसने मेरे हाथ की हड्डियाँ तोड़ डाली थीं, अब आम दुल्हनों की तरह यों लिपटी-लिपटाई पड़ी है कि जब चाहूँ उसे उठा कर सीने से लगा लूँ। न वह हाथ झटकती है, न पाँव पटकती है, बस दो मरहले बाकी हैं। मैं उसके हुस्न को हज़म कर लूँ और वह अपनी हया को हज़म कर ले। फिर तुम्हें सचमुच का दुल्हा बन कर भी दिखा दूँगा। लेट हो जाऊँगा, पर लेट गाड़ियाँ भी तो मंज़िल पर पहुँच ही जाती हैं।"

अब्दुल हन्नान ने ये बातें सुन कर, बेवकूफ़ों की तरह एक अर्थहीन-सा ठहाका लगाया था और चला गया था। उसी समय साजिदा का भाई आ पहुँचा था और अब वे मुकलावे पर जेहलम जा रहे थे। रास्ते में वे एक-दूसरे से कोई बात न कर सके, क्योंकि साजिदा का भाई पास ही बैठा था। बस, राहत अली साजिदा को देखता रहा और साजिदा एक अख़बार के पीछे बैठी, लजाती और ख़ुश होती रही। फिर जब भाई ताज़ा हवा लेने को परली तरफ़ खिड़की के पास जा बैठा और गाड़ी जेहलम के पुल पर से गुज़रने लगी तो साजिदा ने अख़बार एक तरफ़ रख दिया और पुल की गरज को एक क्षण कान धर कर सुनने के बाद कहा, "अरे, ऐसा लगता है, कि पुल 'जेहलम, जेहलम, जेहलम' पुकार रहा है।" इस पर राहत अली ने कहा—"तुम्हें अपने मायके जाने का कितना शौक है, सज्जो! यह ठीक है कि इन दिनों मैं भी तुम्हारे मायके ही में रहूँगा, पर ऐसा लगता है कि तुम्हारे माँ-बाप दो-तीन दिन के लिए तुम्हें मुझसे छीने ले रहे हैं। सच कहता हूँ सज्जो, मैंने तो अभी तुम्हें जी भर के देखा भी नहीं। तुम्हें क्या पता कि मेरे हाथों की हड्डियाँ तुम्हारे कंगनों की चोटें खाने के लिए इतनी मुद्दत से किस क़दर बेक़रार हैं! लेकिन मैं तुम्हारे इन्तज़ार में इतनी मुद्दत तक जागते रहने के बाद अभी आँखें ही मल रहा था कि तुम्हारा भाई तुम्हें लेने आ गया। बात सुनो, यों करें कि जेहलम में उतरें ही नहीं, पिंडी की तरफ भाग जायें!" इस पर साजिदा जिस तरह मुस्करायी थी, वह एक अजीब मुस्कराहट

थी। उस मुस्कराहट में लज्जा भी थी, अभिमान भी था और उस शिकारी का-सा संतोष भी, जो हिरन को जाल में फँसा देख कर, उसे जाल में से निकालने और हलाल करने से पहले टाँगें फैला कर बैठ जाता है और आँखें बन्द करके सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश लगाने लगता है।

जेहलम में दो दिन ठहरने के बाद, साजिदा पहली बार राहत अली से अकेले में मिली। वह उस समय अपने कमरे में गली की तरफ़ खुलने वाले दरवाज़े को थोड़ा खोले, बैठा सिगरेट पी रहा था।

साजिदा ने आते ही गली वाला दरवाज़ा बन्द कर दिया और उसकी तरफ़ देख कर मुस्करायी तो राहत अली चौंका-चौंका-सा नज़र आने लगा और फिर बोला, "क्या बात है?"

साजिदा की मुस्कराहट उसके चेहरे पर भूभल-सा बिखेर कर बुझ गयी। अब राहत अली की जगह पर वह स्वयं चौंकी-चौंकी-सी नज़र आने लगी, और बोली, "क्यों क्या बात है?"

राहत अली ने जैसे समझ लिया और अपने-आप को सम्हालने के लिए उठ खड़ा हुआ और टहलने लगा।

साजिदा इस तरह हैरान और उदास खड़ी रह गयी, जैसे वह दूध का एक प्याला रख कर पल भर के लिए अन्दर गयी हो, लेकिन वापस आयी हो तो बिल्ली सारा दूध पी चुकी हो। वह बहुत दूर से आने वाली आवाज़ में बोली, "मैं आपको यह बताने आयी थी कि अम्मी और अब्बा ने इजाज़त दे दी है और हम आज शाम को गाड़ी से लाहौर चल रहे हैं।"

राहत अली ने उसी तरह टहलते हुए, और साजिदा की तरफ़ देखे बिना कहा, "रुकना चाहो तो दो-चार दिन और रुक जाओ! मेरी तरफ़ से इजाज़त है।"

यह कहकर, वह पलँग पर बैठ गया और साजिदा कुछ ऐसे असमंजस में पड़ी दिखने लगी, मानो उसकी समझ में न आ रहा हो कि अपने दूल्हे की इस उदारता पर ख़ुश होकर अन्दर भाग जाये या बढ़ कर उसका मुँह नोच ले। वह क्षण भर स्तब्ध खड़ी, राहत अली को यों देखती रही, जैसे उसे

पहचानने की कोशिश कर रही हो। फिर उसे इकट्ठा बहुत-सा रोना आ गया। वह पलँग पर ज़रा-सा टिक गयी और राहत अली के सीने पर सिर टिका कर और बाँहों को उसके कंधों पर डाल कर बोली, "नहीं, राहत, आज ही चलेंगे और शाम ही की गाड़ी से चलेंगे।"

"बहुत अच्छा, चलो," राहत अली साजिदा की बाहों का घेरा तोड़ कर खड़े होते हुए बोला। लेकिन ऐसे बोला, जैसे न बोलता तो फड़क कर मर जाता।

वे उसी दिन जेहलम से चले आये।

फिर कोई एक महीने के बाद जेहलम में जब साजिदा की अम्मी, अब्बा और दूसरे घर वाले बैठे इस विषय पर बातें कर रहे थे कि लड़कियाँ ब्याही जाने के बाद यकायक अपने बरसों के घर से बिदा होकर उसे कैसे भूल जाती हैं, तभी यकायक साजिदा आयी और अपनी माँ से लिपट कर बच्चों की तरह बिलखने लगी। सब लोग भौंचक्के-से हो गये। फिर साजिदा के अब्बा कुछ कहे बिना बाहर लपके कि राहत अली को भी अन्दर ले आयें। पर वहाँ राहत अली की बजाय उसका नौकर एक बक्स लिये खड़ा था। उसने सलाम करके बक्स उनको सौंपा और रटा हुआ वाक्य तोते की तरह दुहराया, "सा'ब ने सलाम बोला है और बोला है कि बेगम सा'ब अपनी मर्ज़ी का मालिक है और हम उसके साथ ज़ोरावरी कैसे कर सकता है?"

एकदम साजिदा के रिश्तेदारों और सहेलियों से भरा हुआ पूरा मुहल्ला उमड़ आया। रात गये तक बात-बात पर नाकों पर उँगलियाँ रखी जाती रहीं और आँखें फाड़-फाड़ कर और भौंहें उचका-उचका कर ठंडी साँसें भरी जाती रहीं। आख़िर साजिदा की अम्मी के मुँह से निकली हुई बात पूरे हुजूम में फैल गयी कि 'राहत अली थोड़ा-सा पागल है। वह कहता है कि तुम ख़ूबसूरत तो हो, मगर सिर्फ़ ख़ूबसूरत हो, तुम्हारी खूबसूरती में दबदबा नहीं है।'

"यह दबदबा क्या होता है, बहन?" बताने वाली से किसी ने पूछा।

और वह बोली, "यह भी होता है, पर यहाँ नहीं होता। उधर बड़े

शहरों में होता है।" फिर उसने राहत अली के पागलपन की और व्याख्या की, "वह कहने लगा साजिदा बीवी से कि मैं तुम्हें दूर से देखकर धोखा खा गया था। मैं समझता था कि तुम जीता-जागता साँप हो, पर तुम तो रस्सी निकलीं।"

"हाय, यह कहा उसने ?...यह क्या कहा उसने ?"—किसी ने पूछा।

और बताने वाली बोली, "ऐ मैं क्या पागल हूँ कि पागलों की बातों का मतलब बताती फिरूँ ? हाँ, तो फिर बहन मेहर बीवी कह रही हैं कि कल तो ग़ज़ब हो गया। कल जब साजिदा ने सोते हुए राहत अली को यों ही ज़रा-सा छू लिया तो उसने साजिदा के मुँह पर उलटे हाथ का थप्पड़ दे मारा, और बँकारने लगा कि तुम सिर्फ़ ख़ूबसूरत हो। तुम सिर्फ़ एक आम-सी औरत हो। शादी से पहले मैंने तुम्हारे हुस्न के साथ में जो तलवार देखी थी, वह कहाँ है ? जाओ, अपने-आप को मेरी नफ़रत से बचा ले जाओ।"

"पागल है साफ़ पागल है।" किसी ने कहा।

"बदतमीज़ है, वहशी है, दरिन्दा है," ज़रीना वहीं साजिदा के घुटने के पास बैठी हुई चिल्ला उठी, "हाय, सज्जो, क़सम परविदिगार की, मैं तुम्हारी जगह होती तो उसे छट्ठी का दूध याद दिला देती। अरी, मैं पूछती हूँ, उसने तुम्हारे मुँह पर थप्पड़ मारा तो क्या तुम्हारे हाथ पर फ़ालिज गिर गया था ? जवाब में तुम उसे थप्पड़ मारने की बजाय रोने लगीं और फिर मायके भाग आयीं। मैं होती तो क़सम परवर्दिगार की, उसे दोनों कानों से पकड़ कर झुलाती और पूछती, क्यों मियाँ, दो और दो कितने होते हैं ?" फिर जरा-सा रुक कर बोली, "कमीना !"

दो दिन बाद जब सारा घर सहन में बैठा, इसी दुखद विषय पर बातचीत कर रहा था, यकायक राहत अली अन्दर आया और 'अस्सलाम अलैकुम' कह कर, एक कुर्सी पर यों बैठ गया, जैसे वह हफ़्तों से यहीं रह रहा था, और अभी कुछ देर पहले यों ही ज़रा हवाख़ोरी को निकल गया था। वह बैठा तो बहुत-से लोग खड़े हो गये। और साजिदा अन्दर भाग गयी।

लगभग एक हफ़्ते तक राहत अली सब को यह विश्वास दिलाने में

लगा रहा कि साजिदा उसे ग़लत समझी है और उसके मुँह पर थप्पड़ मारने का किस्सा यह है कि वह सीने पर दोनों हाथ रखे गहरी नींद सो रहा था। जब अचानक हड़बड़ा कर उठा तो उसका उल्टा हाथ साजिदा के मुँह पर जा लगा। अगर पलँग की दूसरी पट्टी पर कोई और बैठा होता तो दूसरा हाथ उसके मुँह पर पड़ता। और इस घटना में उसकी नीयत का कोई हाथ नहीं है। सब घर वाले राहत अली की लगातार सफ़ाई से प्रभावित हो चुके थे और अब तो ज़रीना और दूसरी सहेलियाँ जब साजिदा के गाल पर हाथ फेर कर उसके साथ बनावटी हमदर्दी ज़ाहिर करती थीं तो साजिदा भी हँस देती थी और कहती थी, "अल्लाह करे, तुम्हें भी ऐसे शौहर मिलें कि सोते से घबरा कर उठें तो बेख़याली में तुम्हारे कल्लों पर घूँसे दे मारें!" सहेलियाँ हँसतीं और राहत अली अपने कमरे का गली में खुलने वाला दरवाज़ा आधा खोले बैठा सिगरेट फूँकता रहता। सहेलियाँ अब राहत अली को भी छेड़ने लगी थीं। और ज़रीना तो कहीं से एक खिलौना भी ले आयी थी। यह खिलौना एक गुड्डे और गुड़िया का था। खिलौने में चाबी भर कर उसे हथेली पर रख लिया जाता तो गुड्डा बैठे-बैठे यकायक उठता और हाथ बढ़ा कर गुड़िया के मुँह पर तमाचे मारने लगता और गुड़िया दोनों हाथों में अपना चेहरा छिपा कर अपने शरीर को यों झटके देती, जैसे रो रही हो। कुछ देर के बाद गुड्डा बैठ जाता और गुड़िया खड़ी रह जाती। इस पर सारे घर में खूब कहकहे पड़ते। और जब एक रोज़ राहत अली ने ज़रीना के हाथ से वह खिलौना छीनना चाहा तो ज़रीना की कलाई की एक चूड़ी टूट कर उसकी हथेली में घुस गयी। वह हाथ को घुटनों में दबाकर बैठ गया तो ज़रीना बोली, "मैं साजिदा नहीं हूँ, मिस्टर, मैं ज़रीना हूँ! और मेरी चूड़ियाँ तो उन हाथों को डस लेती हैं, जो उन्हें तोड़ना चाहते हैं।"

फिर एक दिन जब रात को ग्यारह बजे तक कैरम और ताश खेलने के बाद सब लोग अपने-अपने कमरों में आ गये थे और साजिदा की सहेलियाँ अपने-अपने घरों को चली गयी थीं तो एक बजे के क़रीब बड़े दरवाज़े पर लगातार दस्तक होने लगी। मालूम हुआ कि ज़रीना की अम्मी अपने नौकर

के साथ ज़रीना को लेने आयी हैं।

"ज़रीना तो यहाँ से ग्यारह बजे ही चली गयी थी," लोगों ने बताया।

और ज़रीना की माँ चेहरे को दोनों हाथों में छिपा कर, वहीं दरवाज़े पर बैठ गयी। सारे घर में भगदड़ मच गयी। फिर किसी ने आ कर बताया कि राहत अली भी अपने कमरे में नहीं है और उसके कमरे का गली वाला दरवाज़ा पाटों-पाट खुला है। एक क्षण तक सब खड़े एक-दूसरे का मुँह ताकते रहे। और फिर सब एकदम राहत अली के कमरे की तरफ़ भागे। वहाँ पहुँच कर वे फिर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। लेकिन फिर साजिदा ने बेहोश होकर सारी पहेली हल कर दी।

फ़ौरन ही ज़रीना के नौजवान रिश्तेदार एक कार में ठुँस-ठुँसा कर लाहौर की तरफ़ रवाना हो गये और साजिदा के अब्बा ने अब्दुल हन्नान को तार भेजा कि तुरन्त पहुँचो। पर जब तक यह पहेली हल होती, रावलपिंडी से अपनी अम्मी के नाम ज़रीना का खत आ चुका था कि 'हम ख़ैरियत से हैं, और आपकी ख़ैरियत चाहते हैं। दीगर अहवाल यह है कि हमें माफ़ कर दीजिए। छोटे ग़लतियाँ करते रहते हैं और बड़े माफ़ करते रहते हैं और आप हमें माफ़ी की चिट्ठी लिख दें तो हम दोनों आप की दुआएँ लेने के लिए फ़ौरन हाज़िर हो जायेंगे।'

राहत अली जब साजिदा को मुकालवे पर जेहलम लाया था और ससुराल में अपनी बहुत-सी नयी रिशतेदारों और साजिदा की सहेलियों में घिरा हुआ सोफ़े पर जा बैठा था और सामने देखा था तो यकायक उसे यों महसूस हुआ था कि उसने साजिदा से शादी करके झख मारी है।

'यह कौन है?' उसने सोचा था, 'यह जो साजिदा की बिलकुल उल्टी है, लेकिन फिर भी ख़ूबसूरत है, जिसके ज़नानेपन में मर्दों की-सी शान है और जिसका रंग इतना नमकीन है कि ज़बान तक को उसका ज़ायका महसूस होता है, जिसकी आँखें सिर्फ़ इतनी बड़ी हैं कि इससे भी बड़ी हों तो कृत्रिम लगें। हर पलक दूज के चाँद की तरह झुकी हुई है। ख़ूब गहरी और जुड़ी हुई भौंहें हैं। देखने में मोटी-सी गोल नाक है, लेकिन अगर उस चेहरे

पर साजिदा की नाक होती तो पूरे चेहरे को ख़राब कर देती। भरे-पूरे होंठ हैं, जिनका रंग सब्ज़ी लिये सुर्ख़ है, जैसे बहुत-सा ज़हर-मिला ख़ून पड़े-पड़े जम गया हो। भरी हुई ठोड़ी से उसकी दृढ़ प्रकृति का पता चलता है। गर्दन में नीली-नीली रगें हैं और शरीर की रेखाओं में सुन्दरता भी है और स्वस्थता भी—यानी एक ऐसा भरा-पूरापन, जिसके कारण सारा बदन कसा-कसा नज़र आता है।' फिर राहत अली ने सोचा कि अगर वह चित्रकार होता तो उस लड़की की तस्वीर खींचकर उसके नीचे 'हव्वा' लिख देता।

एक साथ सब ने उस लड़की की तरफ़ देखा, जिसकी ओर राहत अली लगातार देखे जा रहा था। फिर वह बोली, "हाय, दूल्हा भाई तो मुझे बिलकुल नदीदों की तरह देखे जा रहे हैं।"

"हाय, ज़रीना!" कोई बड़ी बूढ़ी बोली, "गाली मत बको।"

"गाली मत बको ज़री," राहत अली ने रावलपिंडी के एक होटल में अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द करते हुए कहा, "मैं तो तुम्हें अपना एक ख़याल बता रहा था। मैं तो सिर्फ़ यह कह रहा था कि दुनिया की सारी औरतें, चाहे वे साजिदाएँ हों या ज़रीनाएँ, जब बीवी बनकर मर्द के करीब आती हैं तो अपनी शख़्सियत के ख़ोल में से निकल आती हैं और सीधी-सादी आम औरतें बन जाती हैं। मैं तो तुम्हें यह बता रहा था कि सारी दुनिया में सिर्फ़ एक औरत बसती है। हाँ, हर घर में उसका नाम अलग है।"

"फिर वही बक-बक!" ज़रीना कड़क कर बोली।

दरवाज़े पर दस्तक हुई। ज़रीना के नाम उसकी अम्मी का ख़त आया था। दुनिया की सारी माओं की तरह उन्होंने भी यह कड़वी गोली आँखें बन्द करके निगल ली थी। उन्हें तुरन्त जेहलम बुला भेजा था और यह फ़रमाइश भी की थी कि 'आते हुए मेरे लिए मरी की तीन-चार वास्केटें भी लेती आना।'

"इसका मतलब तो यह है," राहत अली ने कहा, "कि तुम्हारी अम्मी हमसे न सिर्फ़ नाराज़ नहीं हैं, बल्कि ख़ुश भी हैं।"

"ख़ुश क्यों न हों," ज़रीना बोली, "मैंने उन्हें बाकायदा शादी के दस हज़ार के ख़र्चे से बचाया है कि नहीं!"

दूसरे दिन दोपहर को दोनों जेहलम पहुँचे तो ज़रीना की माँ दस मिनट तक ज़रीना को सीने से लगाये रोती रहीं। इसके बाद उन्होंने राहत अली के सिर और पीठ पर तीन-चार बार हाथ फेरा और उसका कन्धा चूमा। पलट कर वे फिर ज़रीना से लिपट गयीं और राहत अली ने एक कुर्सी पर बैठ कर, सामने की जेब में से कंघी निकाली और बाल सँवारने लगा।

एकदम इकट्ठी बहुत-सी पड़ोसिनें कतार-दर-कतार सहन में उमड़ पड़ीं और ज़रीना, उसकी अम्मी और राहत अली उनमें घिर कर रह गये। अक्सर औरतें उन्हें यों हसरत से देखे जा रही थीं, जैसे वे कोई बहुत बड़ा मारका सर करके लौटे हों। इक्का-दुक्का नौजवान लड़कियों ने राहत अली से छेड़-छाड़ करने की भी कोशिश की और कुछ ने तो अपनी चूड़ियों-भरी कलाइयाँ भी उसके सामने यह कह कर फैला दीं कि शायद दुलहा मियाँ के बुत में इसी बहाने कोई हरकत पैदा हो, पर ज़रीना ठहाके लगाती रही और राहत अली चुपचाप यों बैठा रहा, जैसे उसके सामने औरतें नहीं खड़ी हैं, 'बेड़ी बोड़ी' रखी है।

उधर ज़रीना की अम्मी समवयस्क स्त्रियों को बता रही थीं, "बहना, भागती सब हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि ज़रीना छिप कर भागी थी और साजिदा दिन-दहाड़े ढोल बजा कर भागी थी। रहा मेहर का हक़ तो वह कुल दस हज़ार ही तो है। मैं कहती हूँ, साजिदा की अम्माँ जान को बुला भेजो। मैं अभी, इसी वक्त उनके हाथ में सौ-सौ रुपये के सौ नोट न थमा दूँ तो ज़रीना की माँ नहीं।"

तभी राहत अली के चेहरे पर अचानक एक अजीब-सा रंग आ गया—एक ऐसा रंग, जिसका कोई नाम अभी तक नहीं पड़ा—जैसे मिट्टी और हल्दी और ख़ून और ज़हर को आपस में मिला कर मल दिया जाय। वह उठ खड़ा हुआ और सामने देखने लगा। फिर सब ने पलट कर उस तरफ़ देखा और सब के चेहरों पर मिट्टी और हल्दी और ख़ून और ज़हर के रंग बिखर

गये। सब ने जैसे किसी अज्ञात आदेश के पालन में इधर-उधर हट कर राहत अली तक साजिदा के लिए रास्ता बना दिया।

साजिदा के साथ सिर्फ़ एक औरत थी, जो शायद घर की नौकरानी थी। साजिदा ने नकाब उलट रखी थी। उसका चेहरा फ़क़ था। होंठ सख़्ती से भिंच कर ग़ायब-से हो गये थे और वह कुछ यों चल रही थी, जैसे सिर से पाँव तक ऐंठन हो रही हो।

वह आँखें झपके और इधर-उधर देखे बिना, सीधे राहत अली की तरफ़ आयी। उसके निकट आकर रुक गयी। अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फैला कर उसे देखने लगी और फिर एकदम कूक-भरी मशीन की तरह उसने दोनों हाथों से राहत अली के मुँह पर थप्पड़ों की बौछार कर दी। राहत अली बाज़ू लटकाये यों चुपचाप खड़ा रहा, जैसे साजिदा की चूड़ियों के छनाके सुन रहा है। फिर अचानक उसमें जैसे जान पड़ गयी और उसने साजिदा की चूड़ियों-भरी कलाई दबोच ली। काँच की चूड़ियाँ छनक कर टूटीं और हर तरफ़ लाल-हरे शीशे के टुकड़े ख़ून और ज़हर की बूँदों की तरह बिखर गये और साजिदा की कलाई के ख़ून से राहत अली की उँगलियाँ भीग गयीं। साजिदा पागलों की तरह राहत अली पर झपटी और उसके हाथ में अपने दाँत गाड़ दिये और जब राहत अली के हाथ से निकलते हुए ख़ून की एक धार उसकी कोहनी तक बह आयी तो ज़रीना हक्का-बक्का औरतों को चीरती हुई आयी और साजिदा को कन्धे से झटक कर चीख़ी, "यह क्या हरकत है?"

साजिदा ने राहत अली के हाथ पर से होंठ हटाकर, एक झटके के साथ अपनी कलाई छुड़ायी और अपने दाँतों पर फैला हुआ राहत अली का ख़ून ज़रीना के मुँह पर थूक दिया। ज़रीना दोनों हाथों में अपना चेहरा छिपा कर, रोती हुई वहीं बैठ गयी। और साजिदा वापस जाने के लिए पलटी ही थी कि अन्दर कमरे में से ज़रीना की अम्मी सौ-सौ के सौ नोट हाथ में लिये हुए चीख़ती-चिल्लाती बाहर निकलीं और चीख़ीं—"यह ले अपना दस हज़ार का मेहर का हक़, जिसकी ख़ातिर तू मेरी बेटी को काटती

फिर रही है। मैं तो तुझे तेरे होतों-सोतों समेत कुरबान कर डालूँ इस जोड़े पर से।"

साजिदा ने, जिसके होंठ राहत अली के ख़ून से सुर्ख़ हो रहे थे, ज़रा-सा रुक कर ज़रीना की अम्मी की तरफ़ बेपनाह नफ़रत से देखा और फिर रास्ता बनाती हुई, औरतों की भीड़ में से गुज़र कर बाहर चली गयी।

"लाइए, लाइए! मुझे दे दीजिए।"—राहत अली ने ज़रीना की अम्मी की तरफ़ अपना घायल हाथ बढ़ाया।

"यह ले, बेटा।" उन्होंने नोटों का पुलिन्दा उसके हाथों में थमा दिया।

"ये रुपये आपने मुझे दिये हैं न?" उसने पूछा।

"हाँ-हाँ, बेटा," वे बोलीं।

और राहत अली ने वह पुलिन्दा रोती हुई ज़रीना के सामने फेंकते हुए कहा, "तो मैंने ये आपकी बेटी को दिये!"

यह कह कर, वह यों बाहर लपका, जैसे ज़रा-सा रुक गया तो उसे बहुत देर हो जायेगी। ज़रीना ने यह देखा तो खड़ी हो गयी और आँखें फाड़ कर उसे जाते देखने लगी। और उसकी अम्मी दोनों हाथों में अपना चेहरा छिपा कर, रोती हुई वहीं बैठ गयीं।

पर राहत अली लपका चला गया। वह बाहर सड़क पर पहुँच गया और भागने लगा। दूर एक ताँगे में साजिदा के अब्बा, उसका भाई और अब्दुल हन्नान उसकी तरफ़ आ रहे थे। पर वह उन्हें न देख सका। वह तो सिर्फ़ साजिदा को देख रहा था, जिससे अब वह सिर्फ़ पन्द्रह-बीस क़दम की दूरी पर रह गया था।

खदीजा मस्तूर

●●●

बेचारा

रिज़वान मियाँ बड़ी मुस्तैदी से हर काम में आगे-आगे थे। घर में और किसी को होश नहीं था। हट्टे-कट्टे युवक की लाश आँगन में सामने रखी थी। बरामदे में रिश्तेदार औरतों का जमघट था। भाभी जान को बार-बार बेहोशी के दौरे पड़ रहे थे। बड़े भैया अपने बेटे की लाश के पास इस तरह बैठे थे, जैसे स्वयं भी मर चुके हों। दोपहर की ही तो बात है, जब सग्रादत मियाँ ठीक-ठाक घर से निकले, कार में बैठे और अपनी दोस्त से मिलने चल दिये। बेचारे का पाँचवें-छठे महीने तो आना होता था। नौकरी ही ऐसी थी कि एक दिन की छुट्टी में भी नुकसान-ही-नुकसान होता था। रातों-रात अपनी लम्बी-सी सेकेंड-हैंड कार में चलते और सुबह तड़के-तड़के अम्माँ-अब्बा का कलेजा ठंडा कर देते। दो-तीन बजे तक आने-जाने वाले सगे-सम्बन्धियों का ताँता बँधा रहता। सबसे चहक-चहक कर मिलते, गप्पें हाँकते और फिर अपने दोस्त से मिलने निकल जाते। पुरानी यारी थी। अपने शहर आते तो तड़प उठते। याद आ ही जाती। दो-तीन घंटे उधर

भी बिताते और फिर रात का खाना खा कर सफ़र पर चल देते। लेकिन इस बार वापसी भाग्य में नहीं थी। उनकी अम्माँ रात के खाने का प्रबन्ध कर रही थीं कि रिज़वान मियाँ ख़ून में लथपथ लाश लिये आ पहुँचे। यह सब कुछ एकाएकी हुआ और माँ-बाप के कलेजे फट पड़े। पहलौटी की औलाद और वह भी ऐसी कमाऊ कि सारे ख़ानदान की नाक ऊँची कर दी। सारे रिश्तेदार उन्हें अपना दामाद बनाने के लिए जाल बिछाते, पर अम्माँ-अब्बा को कोई रिश्ता ही पसन्द न आता। उधर लोगों का यह हाल कि बस चलता तो अपनी-अपनी बेटियों को शो-केस में सजा कर सआदत मियाँ के सामने पेश कर देते। ख़ैर, यह तो माँ-बाप की तमन्नाएँ थीं। एक बार तो रिज़वान मियाँ की बेटी ने आप-ही-आप सआदत मियाँ के सामने आ कर, सस्ती-सस्ती हरकतें शुरू कर दीं। रिज़वान मियाँ की भाभी ने देखते ही ताड़ लिया। चोटी से पकड़ कर दो थप्पड़ लगाये और रिज़वान मियाँ को बुलाकर साफ़-साफ़ कह दिया कि ज़रा अपनी बेटी को समझाओ कि इसकी क्या हैसियत है। ख़बरदार, अब कभी इधर का रुख़ न करना। उधर ही कहीं बैरों-ख़ानसामों में अपनी बेटी का दुल्हा तलाश करो।

रिज़वान मियाँ सिर झुकाये सब-कुछ सुनते रहे और उनकी बेटी फुसुर-फुसुर रोती रही। कितनी मुश्किल से तो बेचारी को यहाँ आने के लिए रेशमी जोड़ा पहिनने को मिला था। पाँच-छः दिन तक सारे मुहल्ले के घरों में भिखारिनों की तरह चक्कर काटती रही थी, माँगती हुई—'शादी में जाना है। बस दो घंटे बाद वापस कर दूँगी।' पराये जोड़े पर आँसुओं के अनगिनत धब्बे पड़ गये थे।

इस सिलसिले में क़सूर तो रिज़वान मियाँ का था। पचासों बार अपनी बीवी और बेटी के सामने कहा था—'बड़े भैया तो सआदत के लिए इसी घर को पसन्द करते हैं, पर मैं राज़ी नहीं हूँ। रिश्तेदारों में शादी ठीक नहीं होती। दिलों में खोट पड़ जाती है। ख़ुदा वह दिन न लाये कि बड़े भैया के दिल में मेरी तरफ़ से खोट पड़े।' बीवी तो ऐसी बातें सुनकर चुप रहती, पर बेटी से चुप न रहा गया। अपना दुल्हा देखने को निकल पड़ी और रोते-

रोते बेहाल हो गयी। रिज़वान मियाँ देर तक सिर झुकाये बैठे रहे और फिर बेटी के सिर पर हाथ फेरते हुए, उसे साथ ले कर चले गये। मारे आश्चर्य के भाभी की आँखें खुली-की-खुली रह गयीं।

"भई, हद है बेहयाई की!"

"शायद रिज़वान साहब का इरादा है कि बेटियों को पेशा शुरू करा दें।" सआदत मियाँ रिज़वान मियाँ को कभी चचा न कहते थे।

और आज वही रिज़वान मियाँ उनकी लाश सड़क पर पड़ी देख कर चीख़ पड़े थे—'हाय, यह तो मेरा भतीजा है! अरे, मैं ज़िन्दा हूँ कि तुझे इस हाल में देखूँ।' रिज़वान मियाँ ख़ून से लथ-पथ लाश से लिपट गये थे। भीड़ का दिल भी भर आया था।

आज सआदत मियाँ को जाने क्या हुआ था कि जब अपनी पेशेवर दोस्त के यहाँ से लौट रहे थे तो ऐसे मस्त हुए कि सामने से आती हुई इतनी बड़ी बस भी न दिखी। जाने कब तक मिट्टी और ख़ून में लिथड़े पड़े रहते, पर उधर रिज़वान मियाँ जा निकले। भागे-भागे बड़े भैया के घर गये। फिर लाश को घर ले जाने का स्वयं प्रबन्ध किया। और अब अपने बड़े भैया के पास खड़े थे। घंटा भर पुलिस से झक-झक कर के आये थे। क्या फ़ायदा होता पोस्ट-मार्टम से? वैसे ही सारा शरीर चिथड़े-चिथड़े हो गया था।

रिज़वान मियाँ के इन कारनामों पर ख़ानदान के सारे लोग उनके कृतज्ञ दिखते थे। 'अगर रिज़वान मियाँ वक्त पर न पहुँच गये होते तो लाश न जाने कब तक सड़क पर पड़ी रहती।' रिज़वान मियाँ ऐसी बातें सुन-सुन कर अपनी झुकी हुई गर्दन धीरे-धीरे ऊँची करते जा रहे थे। उस समय तो दो दिन के उपवास की कमज़ोरी में भी कमी लग रही थी। वे तो यह भी भूल गये थे कि उनके बीवी-बच्चे भूख से निढाल हो रहे थे और वे काम की खोज में निकले थे। बड़े भैया के पास खड़े होने का यह पहला मौक़ा था। दिल बल्लियों उछल रहा था।

"बड़े भैया, आप ज़रा सब्र से काम लें," वे बार-बार बड़े भैया पर झुक-झुक कर कह रहे थे। और वे इस तरह गुम-सुम बैठे थे, जैसे कुछ सुन ही

न रहे हों। उधर भाभी पछाड़ें खा रही थीं।

"अरे भई, कोई भाभी को अच्छी तरह सम्हाले," रिज़वान मियाँ ने कहा, और औरतों की भीड़ में घुस पड़े।

"खुदा के लिए, भाभी, अपने को सम्हालिए!"

"अरे रिज़वान, तुम मेरे बच्चे को लाये थे? तुमने मेरे बच्चे को ख़ाक से उठाया था? उस वक्त वह ज़िन्दा था? तुमने उसे ज़िन्दा देखा था?... अरे मेरे पास आओ, मैं तुम्हारी आँखें चूम लूँ!"

भाभी तो जैसे पागल हो रही थीं। लेकिन रिज़वान मियाँ ने बिलकुल ही हाथ-पाँव ढीले छोड़ दिये। टुकर-टुकर भाभी का मुँह ताकने लगे। जी चाहता था कि भाभी के चरणों पर सिर रख दें। आख़िर तो आज उन्होंने अपने देवर को देवर समझा। जब चोट लगती है तो अपने ही याद आते हैं। ख़ुदा जन्नत में जगह दे सआदत मियाँ को, जिन्होंने यह इज़्ज़त दी। यह सोचते हुए उनकी आँखों में आँसू आ गये।

"हाँ भई, ख़ुदा भला करे रिज़वान मियाँ का, जिन्होंने सआदत मियाँ को सीने से लगा कर घर पहुँचाया। हाय, कैसी जवान मौत! अभी तो सेहरे के फूल खिलने थे।" चची जान आँसू पोंछ रही थीं।

रिज़वान मियाँ ने बड़े गर्व से उनकी ओर देखा। 'अल्लाह तेरा शुक्र है! तू जिसे चाहे इज़्ज़त बख़्शे और जिसे चाहे घूरे से उठा कर तख़्त पर बैठा दे। तूने ही मुझे अपने अज़ीज़ों से मिला दिया।' रिज़वान मियाँ भी आँसू पोंछने लगे।

"अरे, रिज़वान, मेरे बच्चे ने मेरे लिए कुछ कहा भी था? उसने बद-नसीब माँ को याद भी किया था? अरे, मेरे मौला!"

'ओफ़, कैसे मीठे बोल!' रिज़वान मियाँ खो कर रह गये। भाभी का रुदन घुँघरुओं की झनकार लग रहा था।

सारी ज़िन्दगी में तो कभी ऐसे बोल नहीं सुने थे। हर तरफ़ 'दुर, दुर!' 'हट, हट!'

रिज़वान मियाँ के अब्बा को जाने क्या सूझी कि शादी के पाँच साल

बाद अपने घर की जवान नौकरानी पर राल टपका बैठे। अल्लाह वाले आदमी थे। यों गन्दगी उछालना उनके बस की बात नहीं थी। हाँ, क़ायदे से काम करने में कोई हर्ज नहीं था। खुल्लम-खुल्ला निकाह कर लिया। पहली बीवी बेटे को ले कर मायके जाने को तैयार हो गयी तो पाँव पकड़ लिये कि तुम तो इस घर की मालिक हो। यह तो तुम्हारी ख़िदमत करने के लिए कर ली है।......जो होना था, सो हो गया था। बड़ी बेगम राज़ी हो कर बैठ गयीं। बच्चे के साथ जवानी यों ही बरबाद हो जाती। यहाँ तो ठाट से तख़्त पर बैठकर हुकूमत करना था। हाँ, छोटी बेगम के दिन न पलटे। वही बावर्चीख़ाना और पसीने से चिपचिपाते हुए कपड़े। इस पर भी बड़ी बेगम हर समय व्यंग-बाणों से कलेजा छलनी करती रहतीं। आख़िर उस बेचारी ने भी तो निकाह किया था। वह भी तो बेगम बनी थी। हर समय कलेजा फुँकता रहता। रिज़वान मियाँ को जन्म देकर फिर पलँग से न उठ सकी। बड़ी बेगम के दिल का काँटा निकल गया। रिज़वान मिया बूढ़ी ख़ानसामिन की गोद में फेंक दिये गये। वह खाना पकाते वक्त उनको बावर्चीख़ाने के फ़र्श पर टाट बिछाकर डाल देती। आँखों में धुआँ लगता तो 'किहूँ-किहूँ' रोया करते। ख़ानसामिन कभी ठंडे और कभी गर्म दूध की बोतल मुँह में ठूँस देती तो दम साधकर 'चपर-चपर' शुरू कर देते।

बूढ़ी ख़ानसामिन उनके रोने पर घंटों बड़बड़ाती—'अल्लाह मारी जन कर छोड़ गयी। कीड़े पड़ें चुड़ैल की क़ब्र में।' दूध पिलाते-पिलाते एक़ाध थप्पड़ भी जमा देती।

ज़रा रेंगना शुरू किया तो पाँच वर्ष बड़े भैया आते-जाते सिर पर चपतें मारते। ख़ानसामिन और बड़ी बेगम निहाल होकर हँसतीं। रिज़वान मियाँ ज़रा देर 'पें-पें' करके ज़मीन से मिट्टी खुरचने लगते। मिट्टी खा-खा कर पेट के रोगी हो गये। ख़ानसामिन हर समय धुलाते-धुलाते तंग आ चुकी थी। बड़ी बेगम के सामने फ़रियाद करके डॉक्टर से दवा ले आती, जो दिन में दो-तीन बार मुँह चीर कर पिला दी जाती।

"अरे हाँ, अब ज़िन्दा रहे! आख़िर तो अपने मियाँ की औलाद है।

या तो पैदा ही न हुआ होता कमबख़्त !"

जब डायरिया बढ़ता तो बड़ी बेगम तनिक चिन्तित-सी हो जातीं, "और कुछ नहीं तो मेरे बच्चे की ख़िदमत ही करेगा।"

बड़े भैया कभी-कभी रिज़वान मियाँ से खेलने भी लगते और कभी-कभी प्यार भी कर लेते। बड़ी बेगम मुस्कराने लगतीं। ख़ानसामिन हड़बड़ा जातीं। कहतीं, "अरे मियाँ, तुम उसे न छुओ। हाथ गन्दे हो जायँगे।"

बड़ी बेगम कहतीं, "खेलने दो ख़ानसामिन, मेरा बच्चा अकेला है! बड़ा हो कर आप ही समझ जायेगा।"

रिज़वान मियाँ तीन-चार साल के हुए तो स्वयं भी बड़े भैया के पीछे-पीछे फिरने लगे। वे स्कूल चले जाते तो ये इतने बड़े घर में मारे-मारे फिरा करते। चिड़चिड़ा कर रोते तो बड़ी बेगम थप्पड़ दिखातीं और वे सहम कर बावर्चीख़ाने में शरण लेते। बड़े भैया स्कूल से आते तो उनका चित्त प्रसन्न हो उठता।

छः-सात वर्ष के हुए, तो बड़ी बेगम ने उन्हें भी मुफ़्त के प्राइमरी स्कूल में भर्ती करा दिया। आख़िर तो अपने बाप के बेटे थे। एक बार भी फ़ेल न हुए और प्राइमरी स्कूल की पढ़ाई ख़त्म कर ली। बड़ी बेगम को यह बात ज़रा भी अच्छी न लगी। उनका बेटा तो चौथी क्लास में भी फ़ेल हो गया था।

"बस, अब आगे पढ़ने की क्या ज़रूरत है? घर का काम-काज देखो। सौदा-सुल्फ़ लाने के लिए कोई नौकर थोड़े ही रक्खा जायेगा।" बड़ी बेगम ने त्योरी चढ़ा कर आगे पढ़ाने से इनकार कर दिया। रिज़वान मियाँ को पढ़ने का ऐसा शौक़ था कि इस इनकार पर अपने सूने कमरे में घंटों रोते रहे। यह वही कमरा था, जहाँ कभी छोटी बेगम रहा करती थीं। वहीं अब उनका पलँग पड़ा था। रात को उसी कमरे में ख़ानसामिन भी अपनी खाट डाल लेती थी।

दोपहर को जब अब्बा मियाँ कचहरी से लौटे तो वह फ़रियाद लेकर उनके पास गये, "अम्माँ बेगम कहती हैं कि अब आगे पढ़ने की ज़रूरत नहीं। घर का काम सम्हालो।" बड़े भैया की तरह पहले वे भी अम्मी कहते थे, लेकिन जब ज़रा बड़े हुए तो ख़ानसामिन ने डाँट-डाँट कर अम्माँ बेगम

कहना सिखाया।

"हूँ ! हूँ-ऊँ !" अब्बा मियाँ ने ज़ोर से खँखारा, "ठीक ही कहती हैं अम्माँ बेगम। बेटा, कोई घर भी तो देखे। अब तुम दस साल के हो रहे हो। समझदार हो।" रिज़वान के अब्बा मियाँ शायद अब अपनी बेगम को और दुख न देना चाहते थे। फिर उनकी समझ में अब यह मामला धर्म की दृष्टि से भी कुछ अनुचित न रहा होगा।

रिज़वान मियाँ मुँह लटकाये वापस आ गये। उनकी समझदारी ने जवाब दे दिया था। अब्बा मियाँ की बात उनके पल्ले न पड़ी थी। वे अपने बड़े भैया के पास जा कर फूट पड़े, "अब्बा मियाँ और अम्माँ बेगम कहती हैं कि अब तुम न पढ़ो। घर का काम करो।"

"क्यों, क्यों न पढ़ो ?" बड़े भैया तनतना कर अम्माँ की तरफ़ देखने लगे।

वे उन्हें अपने साथ ले कर कमरे में चली गयीं। थोड़ी देर बाद जब बड़े भैया कमरे से निकले तो वे भी अम्माँ और अब्बा मियाँ से सहमत थे। लेकिन उनके स्वर में विचित्र-सी सहानुभूति थी।

दूसरे ही दिन से रिज़वान मियाँ घर का सौदा-सुल्फ़ लाने लगे। शेष समय सड़कों पर इधर-उधर घूमते या फिर स्कूल के फाटकों के चक्कर काटते।

"हा-हा ! इस बेचारे को कोई नहीं पढ़ने देता," उनके साथ के लड़के मज़ाक़ उड़ाते, "इसके बड़े भैया तो ठाठदार स्कूल में पढ़ते हैं और यह घर के सौदे ख़रीदता है।"

"वाह ! मुझे तो अब्बा मियाँ और बड़े भैया पढ़ाना चाहते थे, मगर मैंने ख़ुद ही कहा कि मैं अब अपना घर सम्हालूँगा। जनाब, मैं घर का मालिक बन गया हूँ।"

रिज़वान मियाँ अपने घर वालों के ख़िलाफ़ एक बात भी न सुन सकते थे। ख़ूब डींगें मारते। घर में तो हर समय बोलती बन्द रहती। भीगी बिल्ली बने रहते। हँसे और टोके गये; बात की और डाँटे गये; ज़रा ज़ोर से क़दम उठाया और पकड़े गये। यह मुसीबत अलग थी कि सुबह से शाम तक रिश्तेदारों का आना-जाना रहता। पानी और चाय पिलाने का सारा काम

उन्हीं के ज़िम्मे था। अम्माँ बेगम ने ट्रे सजाने और चाय पिलाने के सारे तरीक़े सिखा दिये थे। जब वे बड़े अदब से मेहमान औरतों को सलाम करते तो वे गर्दन के इशारे से जवाब देतीं। फिर अम्माँ बेगम से सवाल शुरू हो जाते, "तुमने ही यह सब तमीज़ सिखायी होगी?"

"हाँ! और नहीं तो क्या?"

"कुछ पढ़ा-लिखा भी इसने कि नहीं?"

"लो, अव्वल दर्जे का कूढ़-मग़ज़ है। लाख चाहा कि पढ़ ले, मगर है किस माँ का बेटा!" अम्माँ बेगम हमेशा 'माँ का बेटा' कहतीं। कहते हैं कि क़यामत के दिन मुर्दों को माँ के नाम से ही पुकारा जायेगा। पर रिज़वान मियाँ के लिए तो जीते जी क़यामत आ गयी थी। वे टुकर-टुकर अम्माँ बेगम का मुँह ताकने लगते। 'लो, भला कब पढ़ने से जी चुराया था मैंने और कब फेल हुआ था, जो आज कूढ़-मग़ज़ कहती हैं? ख़ुद ही तो कहा था, कि घर देखो।' वे परेशान होकर सोचते, पर समझ में न आता कि यह सब क्या है?

अधिक दिन नहीं बीते कि वे उस उम्र में आ गये, जब सब कुछ समझने लगे। अम्माँ बेगम उनकी मूँछों के लम्बे-लम्बे, बेतरतीब बाल देखकर झुँझलाने लगीं।

"क्या मुस्टंडों की तरह घर में बैठे रोटियाँ तोड़ते रहते हो? पाल के इतना बड़ा कर दिया। अब अपने हाथ से कमाओ-खाओ! कोई ज़िन्दगी भर का ठीका ले रक्खा है हमने?"

वे बेबसी से सब की तरफ़ देखते। अब्बा मियाँ मुँह फेर कर हुक़्क़े की नली मुँह में ठूँस लेते। रिज़वान मियाँ की तरफ़ देख कर जाने क्यों उनकी नज़रें झुक जातीं। एक ज़रा-सी भावुकता के परिणाम-स्वरूप इतनी बड़ी बेकार-सी चीज़ इस घर में चल-फिर रही थी, जिसका कोई भी तो उपयोग नहीं था। बुढ़ापे में ऐसी बातें कितनी कष्ट-प्रद हो जाती हैं। हर तरफ़ से ध्यान बँटा कर हुक़्क़े से लौ लगाते। फिर भी अम्माँ बेगम को संतोष न होता। अब तो उनके मियाँ की कमाई भी नहीं थी। बड़े भैया अच्छे से पद पर लग गये थे। वे एक-एक पैसा दाँतों से पकड़तीं।

"भई, अब अपनी इस औलाद से कहो कि कोई काम देखे। क्या मेरे बच्चे ने सब का टीका ले रक्खा है?"

"भई, घर के चार काम कर देता है। क्यों ख़ाहमख़ाह..." अब्बा मियाँ कभी-कभी हिमायत में बोल उठते।

"देखो जी, अब अगर उस कमबख़्त की हिमायत में बोले तो मुझसे बुरा कोई न होगा। सौदे में से पैसे काट-काट कर गुलछर्रे उड़ाता है। मैं अपने बेटे की कमाई हराम में नहीं उड़ने दूँगी।"

अब्बा मियाँ चुपचाप हुक़्क़ा गुड़गुड़ाने लगते। और रिज़वान मियाँ सिर झुकाये अपने कमरे में चले जाते और झोला पलँग पर लेट कर टुकर-टुकर छत की ओर ताका करते। कभी सौदे में से एक धेला न काटा था, पर ख़ानदान भर में चोर मशहूर हो गये थे।

'अल्लाह मियाँ, क्या मेरे जन्म के बिना दुनिया सूनी रह जाती?'... वे घंटों सोचते और उन्हें अपनी स्वर्गीय माँ से नफ़रत होने लगती। 'अच्छा हुआ कि मर गयी। ऐसी ही औरतें तो हम-जैसों की ज़िन्दगी तबाह करती हैं। अगर ऐसा न होता तो शायद मैं भी अम्माँ बेगम की औलाद होता,' वे बड़े भोलेपन से सोचने लगते, 'बड़े भैया अपने साथ पढ़ाते। साथ-साथ एक कमरे में रहते। कितने अच्छे हैं बड़े भैया। उन्होंने तो कभी ऊँची आवाज़ में बात भी नहीं की।...ख़ैर घरों में औरतों की यह नफ़रत चार दिन की होती है। सब ठीक हो जायेगा।' वे ख़ुद को तसल्ली देते।

रिज़वान मियाँ जब घर की किट-किट से बिलकुल बेहाल हो जाते तो साफ़ कपड़े पहन कर मुहल्ले में निकल जाते। नज़रें झुकाये, नपे-तुले क़दम उठाते। सामने जो बड़ा-बुज़ुर्ग आता उसे झुक कर आदाब करते। वे घर और बाहर हर समय इस बात का ध्यान रखते कि कोई ऐसी हरकत न करें, जिससे सचमुच नौकरानी के पेट की औलाद मालूम हों।

"मियाँ, तुमने न पढ़कर बहुत बुरा किया। देखो, तुम्हारे बड़े भैया इतने बड़े ओहदे पर बैठे हैं। तुम तो कभी फ़ेल भी नहीं हुए थे, फिर आख़िर पढ़ना क्यों छोड़ दिया?" बुज़ुर्ग अपनी कुरेदने वाली आदत से न चूकते।

"क्या करूँ जी, ज़रा बड़ा हुआ तो सिर में हर वक्त धमक रहने लगी। बस इसी लिए पढ़ना छोड़ दिया। अब्बा मियाँ और अम्माँ बेगम ने बहुतेरे इलाज किये, बड़ा ज़ोर मारा कि मैं आगे पढ़ जाऊँ, लेकिन इस सिर-दर्द ने पीछा न छोड़ा। ख़ैर, मुझे क्या परवाह है? बड़े भैया कहते हैं कि अगर कुछ भी सोचो तो मेरा ख़ून पियो। वे कमाते हैं और मैं घर सम्हालता हूँ।" रिज़वान मियाँ ऐसी गम्भीरता से यह सब कहते कि बुजुर्ग ख़ुश हो जाते। 'हूँह! कैसी कुरेद करते हैं। जैसे मैं उनके सामने अपने घर की बुराई करूँगा...चार दिन में यही हमदर्दी दिखाने वाले कहेंगे कि है न नौकरानी के पेट का। वही आदतें हैं। हर एक शिकायत करता है।'

"ख़ुश रहो बेटा! बहुत शरीफ़ लड़के हो।" बजुर्ग आगे बढ़ जाते और रिज़वान मियाँ अपनी तारीफ़ पर फूले न समाते।

घर पहुँचते-पहुँचते यह ख़ुशी ख़त्म हो जाती। चुपके से अपने कमरे में घुस जाते। खाने के वक्त ख़ानसामिन के पास जाकर ज़मीन पर उकड़ूँ बैठ जाते और वह तामचीनी की पलेट में दाल निकाल कर रोटियाँ हाथ में थमा देती। वे जल्दी-जल्दी बड़े-बड़े कौर निगलने लगते। फिर भी अम्माँ बेगम देख ही लेतीं।

"मुफ़्त का खाने को मिले तो फिर क्या है?..." रिज़वान मियाँ के हाथ से रोटी छुट जाती और वे आधा पेट खा कर ही उठ जाते।

आने-जाने वालों के सामने भी हर समय यही रोना था कि उनके बच्चे की कमाई रिज़वान मुस्टंडा खाये लेता है। औरतें नाकों पर उँगलियाँ रख कर उनकी निन्दा करतीं। और मर्द तो उनसे बात ही न करते। उनके सलाम का जवाब देना भी अपमान की बात समझा जाता। बड़े भैया भी, जब से नौकर हो गये थे, बात न करते। बस 'हूँ हाँ' करके टाल जाते। रिज़वान मियाँ का जी फड़कता रहता। कोई तो उनकी हैसियत मान ले, कोई तो उनको भी गले से लगा ले, कोई तो उनको भी अपना कहे। उनकी माँ ख़ानसामिन थी, बाप तो ख़ानसामा न थे। 'अम्माँ, अल्लाह करे तुम्हारी क़ब्र में कीड़े पड़ें।' रिज़वान मियाँ अपनी माँ को कोस कर फिर ख़ुद भी रोने लगते।

एक रात अब्बा मियाँ को घबराहट का दौरा पड़ा और वे हार्ट फ़ेल हो

जाने से मर गये। घर में कोहराम मच गया। रिज़वान मियाँ अपने अब्बा के पलँग की पट्टी से लग कर इतना रोये कि बेहोश हो गये। किसी ने उनको होश में लाने की कोशिश भी नहीं की। सारे रिश्तेदार अम्माँ बेगम और बड़े भैया को सम्हाले बैठे थे। थोड़ी देर बाद वे स्वयं ही होश में आ गये।

जनाज़े के साथ चलते हुए लोगों ने बड़े भैया की तरह उनको भी थाम रखा था। बड़े भैया मुंह पर रूमाल रक्खे बराबर रोये चले जा रहे थे। रिज़वान मियाँ के या तो आँसू ही न रुकते थे, या अब वह कोशिश करने पर एक आँसू न निकाल सके। बड़े भैया के साथ बिलकुल उन्हीं की तरह लोगों के सहारे चलने में उन्हें एक विचित्र-सी शान्ति का अनुभव हो रहा था।

अब्बा मियाँ को आख़िरी मंज़िल तक पहुँचा कर जब अम्माँ बेगम के सामने गये तो वे जैसे बिलबिला उठीं, "अरे मनहूस, बाप को खा गया। अब तो इस घर से मुँह काला कर जा।" वे छाती फाड़ कर रोयीं। रिज़वान मियाँ चुपके से कमरे में चले गये।

अब्बा मियाँ के चालीसवें के बाद ही रिज़वान मियाँ को महसूस होने लगा कि अब वह एक घड़ी भी इस घर में नहीं रह सकते। क्या फ़ायदा कि धक्के मार कर निकाले जायें और बाहर के लोग तमाशा देखें। वे तो यही सोचेंगे कि नौकरानी के पेट से है न। कोई ऐसी-वैसी हरकत की होगी।

रिज़वान मियाँ ने घर से चले जाने का निश्चय कर लिया। दोपहर में अपना बिस्तर बाँध कर बैठे तो समझ में न आया कि कहाँ जायें। बस यों ही निकल खड़े हुए। सामने यासीन साहब की दुकान पड़ी तो वहीं बिस्तर रख कर चुपचाप बैठ गये। वे उनके अब्बा के दोस्त थे और उनकी लम्बी-चौड़ी दुकान बड़ी मशहूर थी।

"क्यों, ख़ैरियत तो है?" यासीन साहब उनके उतरे हुए चेहरे को ग़ौर से देखने लगे।

"चचा जान, आज तो मैं ज़बरदस्ती घर से निकल आया कि ख़ुद भी कुछ कमाऊँ-धमाऊँ। आख़िर कब तक निकम्मों की तरह बैठा रहूँ? अम्माँ बेगम नाराज़ हो गयीं, भैया रोकते रहे, मगर मैं नहीं माना। अब समझ में

नहीं आता कि क्या करूँ ? आख़िर मेरा भी तो जी चाहता है, घर की कुछ ख़िदमत करने को।"

"मगर रिज़वान मियाँ, तुम्हारी तालीम का मामला ज़रा टेढ़ा है। अच्छी-सी जगह मिलना मुश्किल है।" यासीन साहब चिन्तित हो उठे।

"चचा जान, मैं हर काम कर लूँगा। काम में क्या बेइज़्ज़ती ? बस, कोई बुरा काम न करूँगा।"

"तो फिर मियाँ, यह दुकान तुम्हारी है। दूसरी जगह जाने से क्या फ़ायदा ? इसी को सम्हालो ! तुम्हारे भाई अभी पढ़ रहे हैं।"

दूसरे दिन से रिज़वान मियाँ, दुकान पर काम करने लगे। ग्राहकों को बड़े तमीज़ से कपड़े के थान उठा-उठा कर दिखाते। इस काम में उन्हें अजीब-सी बेइज़्ज़ती महसूस होती, पर करते क्या ? आख़िर तो पेट भरना था। जब दुकान से फ़ुरसत मिलती तो सामने कुर्सी डाल कर बैठ जाते। दूर से घर के कोठे का कमरा नज़र आता था। उसे देख-देख कर आहें भरा करते। 'क्या कहेंगे लोग ! ख़ानदान में सब बड़े-बड़े ओहदों पर रहे, किसी ने दुकानों पर काम न किया। अब तो उन्हें मौक़ा मिल गया कहने का। यही कहेंगे—'जैसी रूह, वैसे फ़रिश्ते !'... और वे घबरा कर दुकान के भीतरी भाग में जा बैठते।

बड़े भैया अपनी सेकेंड-हैंड कार पर सड़क से गुज़र जाते। कभी निगाह उठा कर भी न देखते। दूसरे रिश्तेदार भी उस रास्ते आते-जाते, पर क्या मजाल जो गर्दन मोड़ कर दुकान की तरफ़ देखें।

बड़े भैया के यों सड़क से गुज़र जाने पर यासीन साहब की निगाहों में सवाल उभर आता।

"सब मुझ से नाराज़ हैं कि काम क्यों कर लिया। ख़ुदा का दिया हुआ सब कुछ था। ख़ैर, सब को मना लूँगा।" और रिज़वान मियाँ सिर झुका लेते।

तीसरे-चौथे दिन, रात को ज़रा देर के लिए घर हो आते। अब तो बड़े भैया की 'हूँ, हाँ' भी बनावटी हो गयी थी। अम्माँ बेगम उन्हें देखते ही मुँह फेर लेतीं। बस, एक ख़ानसामिन थी, जो हाल पूछ लेती। "याद आते

हो रिज़वान मियाँ !" वह चुपके से कहती कि कहीं बड़ी बेगम न सुन लें।

कुछ दिन बाद बड़े भैया की शादी हो गयी। बारात उनके सामने ही से निकली। रिज़वान मियाँ ने दुकान में खड़े-खड़े देखा कि फूलों से सजी कार में बड़े भैया सेहरा बाँधे बैठे हैं। आँखों में आँसू आ गये। दिल में अरमान ही रह गया कि बड़े भैया के शहबाला बनते। यासीन साहब बारात देख कर हैरान रह गये।

"अरे, हम लोगों को तो पूछा तक नहीं!"

"जी, वह मैंने रात घर पर कह दिया था कि बारात में न जा सकूँगा। दुकान का हर्ज होगा।" रिज़वान मियाँ बड़ी बेबसी से हँसे।

यासीन साहब किताब के पन्ने उलटने लगे। उस दिन के बाद उन्होंने घर के सिलसिले में कोई बात नहीं की। हाँ, रिज़वान मियाँ का अधिक-से-अधिक ध्यान रखने लगे।

एक दिन यासीन मियाँ ने उन्हें सलाह दी कि अब शादी हो जानी चाहिए। रिज़वान मियाँ ने शरमा कर सिर झुका लिया।

"अम्माँ बेगम और बड़े भैया से पूछूँगा।" उन्होंने संकोच भरे स्वर में कहा।

"ख़ैर, वह तो देखा जायेगा। मैंने बात पक्की कर ली है। बड़ा शरीफ़ घराना है। बस, बेचारे ज़रा ग़रीब हैं। कल चार बजे तैयार रहो। निकाह हो जायेगा।"

रिज़वान मियाँ न दुल्हा बने, न कार पर बैठे, न बड़े भैया की तरह उनकी बारात निकली। सारे अरमान घुट कर रह गये। यहाँ तो यासीन साहब अपने साथ ले गये और चार आदमियों के सामने निकाह हो गया। रिज़वान मियाँ पूरे वक्त चुपके-चुपके रूमाल से आँसू पोंछते रहे, फिर दुल्हन को डोली में बैठा कर अपने कमरे में ले आये।

पाँच-छः दिन बाद बीवी ने हठ किया कि अपने घर ले चलो। अगर वे नाराज़ हैं तो मैं मना लूँगी। रिज़वान मियाँ लाचार हो कर उसे बड़े भैया के घर ले गये। बेचारी नयी-नवेली दुल्हन देर तक खड़ी रही। किसी ने बैठने तक को न कहा। भाभी नाख़ूनों में पालिश लगा रही थीं। अम्माँ बेगम

बीमार थीं और पलँग पर लेटी थीं।

"यह कौन है?" जानते-बूझते उन्होंने बन कर पूछा।

"आपकी बहू।" रिज़वान मियाँ ने ख़ुश होकर जवाब दिया।

बस, उन्होंने करवट बदलकर आँखें बन्द कर लीं। भाभी उठ कर कोठे के कमरे में चली गयीं, जहाँ से बड़े भैया के गाने की आवाज़ आ रही थी। दुल्हन की आँखों में आँसू आ गये। रिज़वान मियाँ लौट पड़े चुपचाप। दुल्हन ने उसके बाद फिर कभी घर जाने के लिए नहीं कहा। रिज़वान मियाँ अपने भैया, अम्माँ की हज़ारों अरमान-भरी बातें करते रहते, पर वह चुपचाप सुनती रहती।

समय कितनी जल्दी करवटें बदलता है। अम्माँ बेगम का स्वर्गवास हो चुका था। रिज़वान मियाँ अब जवान बेटियों के बाप थे। बड़े भैया का अपने बराबर बेटा था। यासीन साहब की मृत्यु के बाद, उनके बेटों में जाने किसने लगाई-बुझाई की कि उन्होंने रिज़वान मियाँ को निकाल बाहर किया। उस समय से कितने दुख झेले, दो-दो दिन के उपवास किये, डलिया तक ढोई, पर कभी अपने घर वालों के ख़िलाफ़ एक शब्द भी मुँह से न निकाला। अगर कोई कुछ कहता भी तो भड़क उठते, "वाह, भई! अल्लाह मियाँ ने अपने भी तो हाथ-पाँव दिये हैं। क्यों न मेहनत करूँ? क्या ज़िन्दगी भर बड़े भैया और दूसरे ख़ानदान वालों के सिर पर बैठा रहूँ?"

लोग उल्टे क़ायल होकर उनकी सज्जनता की तारीफ़ करने लगते और रिज़वान मियाँ अपनी एक-एक नस में शरीफ़ ख़ून दौड़ता महसूस करते। बड़े गर्व से सिर ऊँचा करके इस तारीफ़ पर फूले न समाते। 'आख़िर तो हम दोनों भाई हैं। कभी तो मिल ही जायेंगे,' वे बड़े सरल भाव से सोचते, यह, सारा दोष मेरी नीच माँ का था।'...वे कभी भी अपनी अम्माँ के लिए सोच कर दुखी न होते। मर गयी तो अच्छा ही हुआ।

और आज, जब बड़े भैया अपने जवान बेटे की मृत्यु पर कुछ देर के लिए रिज़वान मियाँ का हाथ पकड़ कर बैठे थे तो उन्हें महसूस हुआ था

कि बड़े भैया उनकी मुहब्बत में पिघले जा रहे हैं। भाभी उनकी बाँहों का सहारा लिये बैठी थीं—वही भाभी जो उनसे तीव्र घृणा करती थीं। यदि कोई भूले से भी कह देता कि रिज़वान भी तो तुम्हारा देवर है तो फ़ौरन ही आग-भभूका हो जातीं। "नौज! खुदा न करे! अब्बा मरहूम से गुनाह हो गया था। अल्लाह उन्हें माफ़ी दे। वह मेरा देवर क्यों होने लगा! ख़ानदान पर कलंक का टीका है।"

आँगन में बने हुए चूल्हे पर पानी का बड़ा-सा पतीला चढ़ा हुआ था। लाश को नहलाने के लिए तख़्ता बिछा दिया गया था।

"अरे, रिज़वान मियाँ, सब औरतों से कहो कि कमरों में चली जायें। अब ग़ुसल देना है।"— छोटे चचा जान ने पुकार कर कहा।

रिज़वान मियाँ—यानी छोटे चचा भी उन्हें 'रिज़वान मियाँ, रिज़वान मियाँ' कह रहे थे। घर में तो वे हमेशा रिज़वान या रिज़वानू कहे जाते थे। बाहर ज़रूर रिज़वान मियाँ थे। रिज़वान मियाँ के हाथ-पाँव काँपने लगे। उस करुणाजनक वातावरण में वे अजीब-सी शान्ति और सुख का अनुभव कर रहे थे।

सारी औरतें भर्रा मार कर कमरों में घुस गयीं।

"अरे, मेरा बेटा दुल्हा बनने जा रहा है।" भाभी रो रही थीं, "हाय रिज़वान मियाँ, यह कैसी शादी है? मेरे बच्चे की दुल्हन कहाँ है? अरे, कोई बताओ, मैं क्या करूँ?" भाभी रोते-रोते बेहोश हुई जा रही थीं।

रिज़वान मियाँ ने अपने महत्व का अनुभव करते हुए उनके मुँह पर पानी के छींटे दिये और उन्हें औरतों को सौंप कर स्वयं आँगन में चले गये।

काम करते हुए वे बार-बार सोच रहे थे कि इस समय उनकी बीवी और लड़कियों को यहाँ होना चाहिए था। 'कहीं भाभी को शिकायत न हो। ख़ैर, मैं माफ़ी माँग लूँगा कि जा कर लाने का वक़्त ही नहीं मिला। उनके पास तो साफ़ कपड़े भी नहीं हैं। ख़्वाहमख़्वाह सब की नज़रें उठेंगी। सारी इज़्ज़त मिट्टी में मिल जायेगी।'

लाश को कफ़न में लपेट कर, अंतिम दर्शन के लिए मुँह खोल दिया

गया। रोती हुई औरतें लाश के गिर्द जमा हो गयीं। रिज़वान मियाँ भाभी को सहारा दिये खड़े थे और वे थीं कि पछाड़ें खा रही थीं। देखते-देखते उनके दाँत भिंच गये और आँखें चढ़ गयीं। मैयत को जल्दी से बाहर ले गये। और रिज़वान मियाँ भाभी को पलँग पर लिटाकर, पानी के छींटे मारने लगे।

"रिज़वान मियाँ तुम घर ही रहो। जाने तुम्हारी भाभी की क्या हालत हो। किसी मर्द का रहना ज़रूरी है।"—मामूँ जान ने आँसू पोंछते हुए कहा। और रिज़वान मियाँ भाभी के कूल्हे से लग कर बैठ गये। वे जब भी होश में आतीं तो पछाड़ें खाने लगतीं। रिज़वान मियाँ उन्हें समझाने और सम्हालने में कोई कसर न छोड़ रहे थे। वैसे सच्ची बात यह थी कि रिज़वान मियाँ का यही जी चाह रहा था कि भाभी रोती रहें, सारी ज़िन्दगी रोती रहें और वे उनके पास बैठे उन्हें समझाते रहें। कितने बर्षों के बाद वे इस घर में अपनों की तरह बैठे थे—वह घर, जिसके लिए वे मुद्दतों से तरस रहे थे, आज यहाँ सब उनसे अच्छी तरह बोले थे। सब उनसे काम को कह रहे थे। आखिर तो अपने अपने ही होते हैं। अल्लाह तेरा शुक्र है! मौत के घर में उन्हें बारात उतरती लग रही थी।

साँझ के झुटपुटे में सारे मर्द आँसू पोंछते वापस आ गये। रिज़वान मियाँ दरवाज़े पर जा खड़े हुए। चचा जान मुँह जूठा कराने के लिए कड़वी रोटी का सामान उठाये हुए थे। बड़े भैया को अब तक लोग थामे हुए थे। वे लड़खड़ाते हुए ड्योढ़ी में दाख़िल हुए।

"मैं अपने बच्चे को जंगल में छोड़ कर ख़ुद वापस आ गया।" धैर्य का बाँध टूट चुका था। बड़े भैया पहली बार दहाड़ कर रोये। रिज़वान मियाँ ने उन्हें थामना चाहा तो उनके सीने से लिपट कर और भी ज़ोर से रोने लगे। रिज़वान मियाँ ने बड़े भैया को ज़ोर से लिपटा लिया, बेताबी से भींचने लगे। सारे सगे-सम्बन्धियों और मुहल्ले वालों के सामने आज वे अपने बड़े भैया से गले मिल रहे थे। उनका दिल ख़ुशी से धड़क रहा था। सारी ग न्दगी की तमन्ना आज पूरी हो रही थी। वे बिलकुल ही भूल गये कि इसी घिर

मौत भी हुई है। सआदत मियाँ तो सचमुच दुल्हा बने हैं।

'अल्लाह तेरा शुक्र है कि आज दोनों भाई गले मिले। खुश रहो सआदत !' वे सब की ओर देख कर बड़े गर्व से मुस्कराये। लेकिन फिर उन्होंने एकदम होंठ भींच लिये। अरे, यह तो मौत का घर है। उन्हें एकदम ख्याल आया। उन्होंने नज़रें झुका लीं।

"दूर हो लानती !" छोटे चचा जान बड़े गुस्से में चीखे, "है किस मा की औलाद ! मौत पर गले मिल-मिल कर खुश हो रहा है।"

रिज़वान मियाँ ने घबरा कर सब की ओर देखा।

सब की आँखों में नफ़रत के शोले लपक रहे थे। बड़े भैया लड़खड़ाते हुए अन्दर जा चुके थे। वे जल्दी से ड्योढ़ी से निकले और सबके बीच से होते हुए सड़क पर आ गये। उनका सिर झुका हुआ था और भूख की कमज़ोरी उन के क़दम पकड़ रही थी।

"अरे, अभी से चल दिये, रिज़वान मियाँ ?" शोक प्रकट करने के लिए आते हुए हकीम साहब ने उन्हें रास्ते में टोक दिया।

"जी, बड़े भैया तो बहुत रोक रहे थे कि मत जाओ, मगर क्या करता ! सुबह का निकला हूँ। लड़की भी बीमार है। खुदा सब्र दे बड़े भैया को !" और वे आगे बढ़ गये।